प्रकाशक :—

भवानी प्रसाद गुप्त,

अध्यक्ष, कृष्णकला-पुस्तक-माला

इलाहाबाद

प्रथम संस्करण—संवत् २००५

मुद्रक

जायसवाल प्रेस, प्रयाग

क्यों ?

पूज्यवर वियोगी हरि जी द्वारा सम्पादित 'ब्रजमाधुरीसार' हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग की मध्यमा (विशारद) परीक्षा में कई वर्षों से पाठ्य-ग्रन्थ स्वीकृत है। गत वर्ष से यह ग्रन्थ पटना विश्व-विद्यालय की बी० ए० परीक्षा में भी रख दिया गया है। इन दोनों परीक्षाओं के पाठ्य-क्रम में 'ब्रजमाधुरीसार' के जिन कवियों की कविताएँ रक्खी गयी हैं, वे प्रायः इतनी क्लिष्ट हैं कि पाद-टिप्पणी में दिये गये शब्दार्थ मात्र से उन का भावार्थ स्पष्ट नहीं होता। देखने में आया है कि अधिकांश परीक्षार्थी ब्रजमाधुरीसार का अधूरा अध्ययन करके ही परीक्षा में प्रविष्ट हो जाया करते हैं। यह भी ज्ञात हुआ है कि आन्ध्रदेशीय छात्रों को इस ग्रन्थ के अध्ययन में विशेष कठिनाई होती है। परीक्षार्थियों की इस असुविधा को देखकर मैंने इस की टीका लिखने का प्रयत्न किया है।

टीका लिखने का कार्य आरम्भ करने के कुछ दिन पश्चात् 'कृष्णकला पुस्तक माला' के व्यवस्थापक बाबू भवानीप्रसाद गुप्त से इस के प्रकाशन के बारे में वार्ता हुई। उन्होंने इसे शीघ्र ही लिख डालने की प्रेरणा दी। पुस्तक के शीघ्र प्रकाशित करने के विचार से उन्होंने यह भी कहा कि एक-एक कवि की टीका लिखकर मुझे देते जाइए, मैं उसे छपाता चलूँ। इस प्रकार पुस्तक की लिखाई और छपाई का कार्य साथ-साथ आरम्भ हुआ।

इस पुस्तक में मैंने मध्यमा परीक्षा में स्वीकृत श्री सूरदास श्री नन्ददास, रसखानि, आनन्दघन, बिहारी, देव, हरिश्चन्द्र, जगन्नाथदास 'रत्नाकर' और सत्यनारायण के काव्य की टीका की है। प्रत्येक कवि की कविताओं की टीका करने के पूर्व उस के काव्य की पृष्ठभूमि, वर्ण्य विषय, समीक्षा, भाषा और शैली पर प्रकाश डाला है। श्री सूरदास और श्री नन्ददास की

आलोचना में भ्रमरगीत और रासपंचाध्यायी जैसे आवश्यक प्रसंगों का उल्लेख कर दिया गया है। टीका करते समय मैंने उन शब्दों का अर्थ नहीं दिया है जिनका उल्लेख मूल पुस्तक की पाद-टिप्पणी में किया गया है। भावार्थ के साथ-साथ आवश्यक सन्दर्भ और टिप्पणी भी दे दी गयी है। अर्थ लिखते समय मूल के भावों को पूर्णतया सुरक्षित रखने का प्रयत्न किया गया है। व्रज-भाषा साहित्य की आवश्यक जानकारी कराने के लिये पुस्तक के आरम्भ में 'व्रजभाषा काव्य-परम्परा' नामक एक संक्षिप्त लेख भी दे दिया गया है। सारांश यह कि जहाँ तक हो सका है, इस टीका को अधिकाधिक उपयोगी बनाने का प्रयत्न किया गया है। मेरा यह प्रयत्न कहाँ तक सफल हुआ है, यह पाठकों के निर्णय पर निर्भर है। पाठकों और शिक्षकों से निवेदन है कि यदि किसी स्थल पर भ्रान्ति रह गयी हो तो उसे सूचित करने की कृपा करें। मैं एतदर्थ उनका अनुगृहीत होऊँगा और अगले संस्करण में संशोधन कर दूँगा।

व्रजभाषा के प्रकाण्ड विद्वान आचार्य डा० रामशङ्कर शुक्ल 'रसाल' जी ने कृपा करके इस की भूमिका लिख दिया है, एतदर्थ उनका आभार मानता हूँ। मेरे जिन सहृदय मित्रों ने मुझे इस टीका लिखने के कार्य में उत्साह दिलाया है उन्हें मैं हार्दिक धन्यवाद देता हूँ। अंत में, कृष्णकला पुस्तक माला के अध्यक्ष बाबू भवानीप्रसाद गुप्त को धन्यवाद देता हूँ जिन के शुभ प्रयत्न से यह टीका प्रकाश में आयी।

प्रयाग
जन्माष्टमी, २००५

विद्वज्जन कृपाकांक्षी
सदानन्द मिश्र

भूमिका

हिन्दी साहित्य का स्वर्णयुग वस्तुतः वह काल है जिसमें महात्मा सूरदास और नंददास आदि अष्टछाप के कवि एक ओर और महात्मा तुलसीदास दूसरी ओर अपनी अमर रचनायें कर रहे थे। गोस्वामी जी ने उस अवधी भाषा को जिसे जायसी ने काव्य के क्षेत्र में लाकर साहित्यिक भाषा बनाने का प्रयत्न किया था और पूर्णतया सफल न हो सके थे काव्योचित ढंग से परिष्कृत और परिमार्जित करते हुए काव्य भाषा बनाने में पूर्ण सफलता प्राप्त की। यह भाषा साहित्यिक भाषा तो हो ही गई किन्तु भगवान राम की मंगलकारिणी कथा के संपर्क से परम पवित्र और भाग्यशालिनी भी हो गई। रामचरित्र के लिये अवधी भाषा का आश्रय लेना अनिवार्य था क्योंकि यही भाषा उनके लीलाधाम और जन्मभूमि की भाषा थी किन्तु गोस्वामी जी की अद्वितीय प्रतिभा और कुशल लेखनी के कारण यह भाषा उस उत्कृष्ट स्थान को पहुँच गई कि जिसके समक्ष काव्य-भाषा का स्थान कम कहा जा सकता है। अन्य कवियों का साहस इसलिये इस भाषा में फिर साधारण काव्य रचना करने के लिये न हो सका।

महात्मा सूरदास ने कृष्ण काव्य के लिये स्वामी वल्लभाचार्य के प्रभाव से व्रजभाषा को उठाया क्योंकि व्रजभाषा भगवान् कृष्ण की लीलाभूमि अर्थात् व्रजभूमि की भाषा थी। संभवतः उनसे पूर्व इस भाषा का प्रयोग ऐसे उत्कृष्ट काव्य में अन्य किसी सत् कवि ने न किया था। इसीलिये सूरदास जी को व्रजभाषा और उसके कृष्ण-काव्य का प्रथम महाकवि कहा जाता है। यह विचारणीय है कि सूरदास जी ने व्रजभाषा का उपयोग कृष्ण-काव्य जैसे उत्कृष्ट काव्य में सब से प्रथम किया और इतने सुन्दर रूप में जिसे देखकर यही कहा जा सकता है कि यह

भाषा कदाचित सूरदास से पूर्व परिष्कृत और परिमार्जित होकर काव्य-भाषा के रूप में विकसित हो चुकी थी किन्तु इसके लिये कोई सुदृढ़ प्रमाण नहीं है। ऐसी दशा में व्रजभाषा के ऐसे सत् प्रयोग के लिये सूरदास जी की जितनी भी सराहना की जाय थोड़ी है। जायसी ने भी ठीक इसी प्रकार जन साधारण की ठेठ अवधी का प्रयोग काव्य में कदाचित सब से प्रथम किया था किन्तु उनको ऐसी सफलता नहीं मिली, यह भी एक कारण विशेष है जिस से जायसी आदि की अपेक्षा सूरदास जी को विशेष ऊँचा स्थान दिया जाता है और दिया भी जाना चाहिये। सूरदास जी के पश्चात् नन्ददास जी ने इसी व्रजभाषा को अपने काव्य में बड़े सौष्ठव और सौन्दर्य के साथ निखारा किन्तु सूरदास जी की व्रजभाषा में स्वाभाविकता की जो सुन्दरता है वह नंददास की व्रजभाषा में नहीं। नंददास की व्रजभाषा में कुशल कला-कौशल की कान्ति अवश्यमेव झलकती है। इसका यह तात्पर्य भी नहीं कि सूरदास की भाषा में कलात्मक-कौशल का अभाव है, यह अवश्यमेव कहा जा सकता है कि कृत्रिमता जो साहित्यिक भाषा में अवश्य आ जाती है सूरदास की भाषा में विशेष नहीं। इन दोनों महाकवियों के साथ ही साथ अष्टछाप के और दूसरे सत्कवियों ने भी व्रजभाषा के द्वारा भगवान कृष्ण की ललित लीलाओं को काव्य के रुचिर रोचक रूप से अलंकृत कर व्यापक करने का प्रयत्न किया। यहाँ यह कहना भी अप्रासंगिक नहीं कि कृष्ण-काव्य राम-काव्य की अपेक्षा अधिक साहित्यिक सीमा के अन्दर आया है इसीलिये व्रजभाषा भी काव्य के लिये अधिक उपयोगी समझी जाकर समस्त उत्तर भारत में काव्य की एक मात्र सफल भाषा मानी गई और लगभग तीन सौ वर्षों तक अकेली काव्य-भाषा होकर युक्तप्रान्त से आगे पश्चिम में राजपूताना, पूर्व में विहार और

मिथिला तथा दक्षिण में महाराष्ट्र प्रान्त तक व्यापक रही। यद्यपि आधुनिक युग में इसका वैसा प्राबल्य और प्राधान्य नहीं जैसा खड़ी बोली का है किन्तु यह आज भी स्थायी सत् काव्य की सर्वथा समीचीन भाषा होती हुई जीवित है और अनेक कवियों की रुचिर रचनाओं में रमती है।

वास्तव में यदि व्रजभाषा के साहित्य को हिन्दी साहित्य सदन से हटा दिया जाय तो उस सदन की मानों सभी श्री, धी और निधि निकल जायगी। वह एक साधारण सदन-सा दीन और दुर्बल रूप में दीखेगा। हिन्दू हृदय, हिन्दू संस्कृति और हिन्दू सभ्यता की सुरक्षा इसी साहित्य से है। हिन्दुत्व का प्राण इसी साहित्य में मिलता है। इसमें संदेह नहीं कि व्रजभाषा और उसके काव्य की विशेषतायें ऐसी हैं जिनकी ओर भावुक हृदय बिना समाकृष्ट हुए रह नहीं सकता, इसमें भी संदेह नहीं कि व्रजभाषा और उसकी काव्य-धारा नवीन युग के प्रवाह के साथ नई प्रगति से नहीं चल सकती क्योंकि वह एक विशेष प्रकार की प्रगति में अभ्यस्त हो चुकी है, उसकी चिर-प्रचलित परम्परायें ऐसी बन चुकी हैं कि उनसे उसे पृथक कर देना उसी प्रकार है जैसे एक प्रौढ़ और वयोवृद्ध व्यक्ति को उसके चिर-संचित संस्कारों और सुदृढ़ स्वभावों से पृथक कर देना है। यह अवश्यमेव सत्य है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने में सामयिक परिवर्तन न्यूनाधिक रूप में करता ही है, उसी प्रकार व्रजभाषा में भी समय और समाज के प्रभाव से कुछ थोड़ा-सा परिवर्तन हुआ है और यह स्वाभाविक भी है। आधुनिक काल में व्रजभाषा का जो साहित्यिक स्वरूप व्रजभाषा के कवियों और प्रेमियों में प्रचलित है वह उस प्राचीन रूप से बहुत कुछ अलग सा है फिर भी व्रजभाषा की प्रकृति वही बनी हुई है। चूँकि यह भाषा एक विस्तृत भू-भाग में कई शताब्दियों तक शतशः कविवरों के द्वारा व्यवहृत

होती आई है और यह सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक आदि बड़े-बड़े परिवर्तनों के नर्तनों में साथ रही है इसलिये इसमें विविध रूपता का आ जाना नितान्त स्वाभाविक है किन्तु किसी साहित्य को स्थायित्व देने के लिये यह अनिवार्य है कि उसकी भाषा को एक रूपता देकर स्थायी बनाया जाय। इस विचार से इस भाषा को एक रूप देने का प्रयास बहुत पहले से दूरदर्शी सुयोग्य कवियों के द्वारा किया गया है, आचार्य केशव ने इस प्रयत्न का प्रारम्भ सुचारु-रूप से किया यद्यपि इसे वह पूर्णता तक न पहुँचा सके। यह कार्य किसी एक व्यक्ति का न तो होता ही है और न हो ही सकता है। उनके पश्चात् घनानंद, सेनापति जैसे कुछ सुयोग्य सत् कवियों ने इस प्रयास को आगे बढ़ाया। कविवर बिहारीलाल ने इसे और भी सफलता के निकट पहुँचाने का सराहनीय उद्योग किया। बिहारी सतसई की भाषा में व्रजभाषा की एक रूपता बहुत कुछ निखरी हुई है। आधुनिक काल में आकर भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने नये रूप से व्रजभाषा का प्रशस्त परिष्कार किया और इधर की ओर आकर स्वर्गीय रत्नाकर, रामचन्द्र शुक्ल 'सरस' जैसे कवियों ने इसे और भी परिमार्जित करके साहित्य-सौष्ठव प्रदान किया। कविरत्न सत्यनारायण और श्री वियोगी हरि जैसे कुछ सुकवियों ने व्रजभाषा में अद्यतन दृष्टिकोण से नवीन भावों के व्यंजित करने की क्षमता देने का सराहनीय प्रयास किया और इसके प्रमाणित करने की चारु चेष्ठा की कि व्रजभाषा आधुनिक कालीन विचार-धारा के सुन्दर रूप में व्यक्त करने के लिए अक्षम नहीं है केवल सत कवियों को तनिक इस ओर ध्यान देने की आवश्यकता है। हरिऔध जी ने इसी विचार को लेकर अपने 'रस-कलस' में व्रजभाषा की व्यंजकता और समर्थता को नूतन रूप से सिद्ध करने का प्रयास किया। यहाँ तक कि उन्होंने व्रजभाषा के ही द्वारा रहस्यवाद

जैसी कथित नवीन विचार-धाराओं को प्राचीन कला-कौशल के साँचे में ढालते हुए विशेष सराहनीय सफलता से व्यक्त किया है। इसमें संदेह नहीं कि ब्रजभाषा के कवियों ने प्राचीन विचार-धारा संस्कृति और विषय परम्परा के साथ ही साथ सदैव नवीन मौलिकता दिखलायी है। कतिपय ऐसी परम्परायें उनके द्वारा प्रचलित की गईं जिनका अनुकरण आधुनिक खड़ी बोली के सुकवियों ने भी बड़े चाव-भाव के साथ में किया है।

इस प्रकार संक्षेप में यहाँ ब्रजभाषा और उसके काव्य की प्रगति का विहंगावलोकन किया गया है। सब से बड़ी कठिनाई इस समय यह है कि ब्रजभाषा और उसके काव्य के समझने के लिये समीचीन साधनों का बहुत कुछ अभाव है। खड़ी बोली और उसके नवसाहित्य के प्रचुर प्रचार और प्रखर प्राबल्य के कारण जनता से इन दोनों के समझने का संस्कार बहुत कुछ हट गया है। खेद तो यह है कि ब्रजभाषा के पास अब तक कोई अच्छा शब्द कोष और व्याकरण नहीं। यह दोनों साहित्य के समझने के लिये अनिवार्य-साधन हैं। बहुत कुछ प्रयास टीकाओं के द्वारा साहित्य के समझने और समझाने का किया गया है अवश्य, किन्तु वह भी अभी दाल में नमक के ही बराबर है, ब्रजभाषा की बहुत बड़ी काव्य-राशि टीका विहीन पड़ी है। कुछ थोड़े से काव्य-ग्रन्थों की टीकायें इस समय हैं भी वे बहुत सुयोग्य और काव्य मर्मज्ञों के द्वारा नहीं लिखी गई हैं ऐसी दशा में परिणाम यही हो सकता है कि ब्रजभाषा और उसका काव्य हमसे दूर हट जाय। धन्यवाद है उन महानुभावों को जिनकी कृपा से ब्रजभाषा और उसका काव्य विविध कक्षाओं की पाठ्य पुस्तकों में इसलिये रखा जाता है जिस से प्राचीन काव्य-परम्परा विचार-धारा और भाषा का यत् किंचित ज्ञान विद्यार्थियों को हो सके। बहुत बड़ी आशंका इस बात की है कि यदि इस ओर

समुचित ध्यान न दिया गया तो शीघ्र ही हमारी यह काव्य रत्न-राशि भूत के गर्भ में विलीन होकर अज्ञात हो जायगी। बहुधा सुन्दर टीकाओं के न होने से विद्यार्थी वर्ग ब्रजभाषा के पाठ्य ग्रन्थ छोड़ दिया करते हैं और पाठ्य निर्धारकों को भी उन ग्रन्थों को पाठ्य-क्रम में रखते हुए संकोच-सा होता है। हमारा हिन्दी हितैषी प्रकाशकों से निवेदन है कि वे इसे एक पुण्य कर्त्तव्य समझकर आश्रय दें और ब्रजभाषा काव्य ग्रन्थों के सुसंपादित सुन्दर सटीक ग्रन्थ प्रकाशित कर इस रत्न-राशि को खो जाने से बचायें हमारा निवेदन उन साहित्य मर्मज्ञों से भी है जो निस्वार्थ भाव से साहित्य सेवा का व्रत लेते हैं उन्हें भी इसे एक पवित्र कर्त्तव्य समझकर ब्रजभाषा काव्य ग्रन्थों की सुन्दर टीकायें तैयार करनी चाहिये।

मुझे हर्ष है प्रस्तुत 'ब्रजमाधुरीसार' के नयरत्नों की विवेचनात्मक टीका को प्रकाशित होते देखकर। टीका की आलोचना करना मेरा यहाँ कार्य नहीं, यह तो वस्तुतः सहृदय पाठकों, सत् समालोचकों और विशेषतया विद्यार्थियों का ही कार्य है। मैं अपनी ओर से इतना अवश्यमेव कह सकता हूँ कि टीकाकार ने इस टीका को सफल बनाने का यथा साध्य पूरा प्रयास किया है, इसके लिये मैं उन्हें साधुवाद देता हूँ साथ ही मैं इस टीका के प्रकाशक श्री भवानी प्रसाद गुप्त को भी धन्यवाद देता हूँ। मुझे आशा है कि इसी प्रकार और भी टीकायें शीघ्र प्रकाशित हो सकेंगी। मेरा यह अनुमान है कि यह टीका विद्यार्थियों के लिये बहुत उपयोगी सिद्ध हो सकेगी। तथास्तु:

१२ बी० बेली रोड
नया कटरा, प्रयाग
२२—९—४८

रामशङ्कर शुक्ल 'रसाल'
एम० ए० डी० लिट्

विषय सूची

प्रकाशकीय

कई वर्ष से मैं इस उद्योग में था कि 'ब्रजमाधुरीसार' की एक ऐसी उपयोगी टीका निकालूँ जिससे सम्मेलन के परीक्षार्थियों और कालेज के विद्यार्थियों को इस ग्रंथके अध्ययन में पूरी पूरी सहायता मिल सके। कई असुविधाओं के होते हुए भी विद्यार्थियों के लाभ के हेतु मैंने यथाशक्ति जल्द से जल्द इसका प्रकाशन किया है।

मद्रास और विहार प्रान्त के उन सैकेडों अध्यापकों और विद्यार्थियों का मैं कृतज्ञ हूँ जो वर्षों पहले से ऐसी टीका तैयार कराने की विशेष आवश्यकता बताकर मुझे प्रोत्साहित करते रहे हैं। मुझे विश्वास है कि वे इसे देखकर प्रसन्न होंगे और यथा शक्ति इसका प्रचार करेंगे।

५१६ ई० मुट्ठीगंज **भवानी प्रसाद गुप्त**

२६—९—४८ प्रकाशक

ब्रजभाषा काव्य-परम्परा

ब्रजभाषा काव्य पर विचार करने के पूर्व 'ब्रज' शब्द की व्युत्पत्ति पर विचार कर लेना आवश्यक है। यह शब्द संस्कृत धातु 'व्रज' (जिसका अर्थ 'जाना' होता है) से बना है। साधारणतया 'व्रज' शब्द का अर्थ 'व्रजन्ति गावो यस्मिन्निति व्रजः' कहा गया है जिसका तात्पर्य यह होता है कि जिस स्थान पर नित्य गाएँ चलती और चरती हैं, उस स्थान को व्रज कहते हैं। वेदों में इस शब्द का प्रयोग पशुओं के चरागाह के रूप में हुआ है। संहिताओं और रामायण तथा महाभारत आदि ग्रन्थों तक में यह शब्द देशवाची नहीं हो सका था। पौराणिक युग में भी 'व्रज' शब्द का प्रयोग नन्द के गोष्ठ विशेष रूप में ही हुआ है। हिन्दी साहित्य में यह पहले-पहल देशवाची हुआ किन्तु सूरदास जी ने गोपियों के विरह के प्रसंग में व्रज का ऐसा चित्रण किया है जिससे प्रतीत होता है कि व्रज मथुरा नगर से अलग था। सूरदास ने व्रज का विशेष प्रयोग गोकुल आदि गावों के लिये ही किया है।

धीरे-धीरे 'व्रज' शब्द की व्यापकता बढ़ने लगी। फिर तो इस का अर्थ प्रदेश विशेष तक ही सीमित न रह कर भाषा वाची भी हो गया। व्रज का प्रदेश वाची अर्थ भी आज विस्तृत हो गया है। अब व्रज-मण्डल का विस्तार ८४ कोस माना जाता है। इस की सीमा के सम्बन्ध में यह दोहा बहुत प्रसिद्ध है—

> ''इत वर हद इत सोनहद, उत सूरसेन को गावँ।
> व्रज चौरासी कोस में मथुरा मण्डल माँह॥''

अर्थात् ब्रजमण्डल के एक ओर की हद बर स्थान है, दूसरी ओर सोन है और तीसरी ओर सूरसेन का गाँव है। मथुरा इसका केन्द्र स्थान है[1]। आज ब्रजमण्डल में सम्पूर्ण मथुरा तथा आगरा, अलीगढ़, गुड़गावँ और भरतपुर का आंशिक भाग सम्मिलित है। ब्रज की बोली भी केवल अपने क्षेत्र में ही सीमित नहीं रही प्रत्युत वह ब्रजपति श्रीकृष्ण भगवान का सहयोग पाकर काव्य-भाषा बन गयी और धीरे-धीरे देश के कोने में व्याप्त हो गयी।

ज्यों-ज्यों कृष्ण भक्ति का प्रचार होता गया त्यों-त्यों देश के कोने-कोने से कृष्ण भक्त ब्रज की पावन रज का दर्शन करने के लिए आने लगे। आज तो ऐसी स्थिति है कि सावन के महीने में लाखों यात्री प्रति वर्ष ब्रज में पहुँच जाते हैं और ब्रज की रज, ब्रज के बन, पहाड़, नदी, पशु, पक्षी और पुरुष-स्त्री सभी को प्रेम भाव से देखकर गद्गद् हो जाते हैं। ब्रज का दृश्य देखकर उनके नेत्र तृप्त नहीं होते अपितु उनकी प्यास प्रति क्षण बढ़ती जाती है। उन्हें आज भी ऐसा लगता है मानों श्रीकृष्ण गायें चरा रहे हैं, ग्वाल बालों और गोपियों के साथ क्रीड़ा कर रहे हैं। जब वे ब्रज के किसी बच्चे के मुँह से 'मैया-मैया' की पुकार सुन लेते हैं तो उन्हें ऐसा प्रतीत होता है मानों वे बाल-कृष्ण के मधुर वचनों को सुन रहे हों। सावन के महीने में ब्रज की प्रकृति अपना सुन्दर शृंगार करती है ब्रज का यह अपूर्व दृश्य पंडित सत्यनारायण कविरत्न के शब्दों में सुनिये—

पावन सावन मास नई उनई घन पाँती।
मुनि-मन भाई छई, रसमई मंजुल काँती॥

---

1. अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय—डा० दीनदयालु गुप्त (पृ० २)

सोहत सुन्दर चहुँ सजल, सरिता पोखर ताल ।
लोल लोल तहँ अति अमल, दादुर बोल रसाल ॥
छटा चूई परें ॥
अलवेली कहुँ बेलि, द्रुमन सों लिपटि सुहाई ।
धोये - धोये पातन की अनुपम कमनाई ॥
चातक चलि कोयल ललित, बोलत मधुरे बोल ।
कूकि-कूकि केकी कलित, कुञ्जनु करत कलोल ॥
निरखि घन घटा ॥
इन्द्र धनुष अरु इन्द्र बधूटिन की सुचि सोभा ।
[illegible] जनम्यौं मनुज, जासु मन निरखि न लोभा ॥
प्रिय पावन पावस-लहरि, लहलहात चहुँ ओर ।
छाई छबि छिति पै छहरि, ताको ओर न छोर ॥
लसै मन मोहिनी ॥
कहूँ बालिका-पुञ्ज कुञ्ज लखि परियत पावन ।
सुख-सरसावन, सरल सुहावन, हिय हरसावन ॥
कोकिल - कंठ - लजावनी, मनभावनी अपार ।
मातृ - प्रेम - सरसावनी रागति मंजु मलहार ॥
हिंडोरनि झूलतीं ॥

व्रज के इस अनूठे दृश्य को देखकर भला कौन विमोहित न होगा । कृष्णोपासक भक्त व्रज को 'गोलोक' मानते हैं । वे व्रज-भूमि में रह कर व्रजपति का गुण-गान करने में ही अपने जीवन की सार्थकता समझते हैं । महात्मा सूरदास आदि ऐसे ही भक्त थे जिन्होंने व्रजभूमि, व्रजभाषा और व्रजपति की अनन्य उपासना की है ।

व्रजभाषा में कृष्ण-काव्य की रचना का समस्त श्रेय स्वामी वल्लभाचार्य को है । इनके पुष्टि मार्ग में दीक्षित होकर और इनका आशीर्वाद पाकर महात्मा सूरदास ने व्रजभाषा-काव्य

की मन्दाकिनी बहाई। इनके पश्चात् अष्टछाप के अन्य भक्त कवियों ने व्रजभाषा-काव्य का भण्डार बढ़ाया। स्वामी वल्लभाचार्य द्वारा प्रचारित भगवान कृष्ण की प्रेम-गाथा का कालान्तर में इतना प्रचार हुआ कि रहीम और रसखान आदि कितने ही भक्त कवि श्रीकृष्ण के प्रेम में विभोर हो गये। अष्टछाप के कवियों के पश्चात् भक्तिकाल में हित हरिवंश, गदाधर भट्ट, मीराबाई, स्वामी हरिदास, सूरदास मदनमोहन, श्री भट्ट, व्यास जी, रसखान और ध्रुवदास आदि अनेकों भक्त कवि हुए।

रीतिकाल में व्रजभाषा का अपूर्व शृंगार हुआ। हिन्दी साहित्य के प्राय: सभी कवि रसराज के वर्णन में ही लग गये। इस काल में व्रजभाषा ने प्रधान काव्य-भाषा का रूप ग्रहण किया। गोस्वामी तुलसीदास जी के पश्चात् अवधी काव्य-क्षेत्र से हट गयी। इस काल में कला की दृष्टि से व्रजभाषा की बड़ी समृद्धि हुई। इस काल के प्रमुख कवियों में केशवदास, बिहारी, भूषण, मतिराम, देव, दास और पद्माकर आदि बहुत प्रसिद्ध हुए।

व्रजभाषा-काव्य की परम्परा जिस प्रकार भक्ति और रीति काल में चलती रही उसी प्रकार भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र के समय में भी चलती रही। भारतेन्दु के सहयोगियों ने व्रजभाषा में प्रचुरपरिमाण में कवितायें कीं। इस के पश्चात काव्य-क्षेत्र में खड़ी बोली का आगमन हुआ। हिन्दी के अधिकांश कविगण इधर झुके और नवीन काव्य-भाषा का सूत्रपात्र किया। व्रजभाषा सरिता का प्रवाह मन्द पड़ गया फिर भी इस गये बीते जमाने में बाबू जगन्नाथदास 'रत्नाकर' और पं० सत्यनारायण कविरत्न आदि कवियों ने व्रजभाषा की धाक जमा ही दी है। रत्नाकर जी का 'उद्धव शतक', श्री सत्यनारायण का 'हृदय तरंग'

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का 'बुद्ध चरित' पंडित वियोगीहरि जी की 'वीर सतसई' श्री दुलारे लाल भार्गव की 'दुलारे दोहावली' श्री रामनाथ ज्योतिषी का 'रामचन्द्रोदय' श्री केशरीसिंह का 'प्रताप चरित्र' और पं० रामचरित उपाध्याय की 'ब्रज सतसई' आधुनिक काल की ब्रजभाषा को कृतियाँ है। पं० गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही', डा० रामप्रसाद त्रिपाठी, डा० रामशङ्कर शुक्ल 'रसाल', पं० रामचन्द्र शुक्ल 'सरस', बाबू रायकृष्णदास, श्री उमाशंकर वाजपेयी 'उमेश' ब्रजभाषा के वर्तमान कवि हैं। खड़ी बोली की बढ़ती काव्य धारा को देखते हुए शंका होती है कि कहीं ब्रजभाषा कविता लुप्त न हो जाय। इस सम्बन्ध में आचार्य पंडित रामचन्द्र शुक्ल का एक वक्तव्य उद्धृत करना बहुत आवश्यक प्रतीत होता है। आचार्य शुल्क जी ने हिन्दी साहित्य के इतिहास में पृष्ठ ६६० पर लिखा है।

"हम नहीं चाहते और शायद कोई भी नहीं चाहेगा कि ब्रजभाषा-काव्य की धारा लुप्त हो जाय। उसे यदि इस काल में भी चलना है तो वर्तमान भावों को ग्रहण करने के साथ भाषा का भी परिष्कार करना पड़ेगा। उसे चलती ब्रजभाषा के अधिक मेल में लाना होगा। अप्रचलित संस्कृत शब्दों को भी अब बिगड़े रूपों में रखने की आवश्यकता नहीं। 'बुद्ध-चरित' काव्य में हमने इसी पद्धति का अनुसरण किया था और कोई बाधा नहीं दिखाई पड़ी थी।"

आशा है आचार्य शुक्ल की इस धारणा के अनुसार ब्रजभाषा काव्य-परम्परा चलती रहेगी।

—:०:०::०::०:०—

१—श्री सूरदास

सूरदास के काव्य की पृष्ठभूमि—वीरगाथा काल की समाप्ति होते-होते हिन्दुओं की शक्ति एकदम क्षीण हो गयी। सारे देश पर मुसलमानों का अधिकार और आतंक छा गया। मंदिरों को लूटना, मूर्त्तियों को तोड़ना, बलात् हिन्दुओं को मुसलमान बनाना ही इस समय के बर्बर मुसलमानों का एकमात्र कर्त्तव्य हो गया था। हिन्दू जाति नित्य-प्रति अपनी आँखों से विधर्मियों के इस जघन्य-कृत्य को देखती थी और अपने में प्रति-शोध चुकाने की शक्ति का अभाव देखकर वह चुप रह जाती थी। धीरे-धीरे वह जीवन से निराश होती जा रही थी। इसी समय कुछ ऐसे संत आये जिन्होंने हिन्दुओं और मुसलमानों में ऐक्य की भावना पैदा की। इन संतों ने अपनी निर्गुण उपासना का प्रचार किया किन्तु इनकी अटपटी बानी जनता को अधिक विमोहित न कर सकी। अवसर पाकर कुछ मुसलमान सूफी कवियों ने हिन्दुओं की लोक-प्रचलित आदर्श प्रेम-कथाओं को लेकर और बीच-बीच में अपने एकेश्वरवाद की रहस्यमयी भाव-नाओं को चित्रित करके लोगों को अपनी ओर आकृष्ट करना चाहा किन्तु इस प्रयास में उन्हें सफलता नहीं मिली; मिलती भी क्यों? हिन्दू जाति इस समय अपनी संस्कृति-रक्षा के लिए सचेष्ट जो थी। अपने चिर-संचित संस्कारों की रक्षा का मोह उसे अब भी था। इसी समय कुछ वैष्णव संतों ने भगवान् के अवतार राम और कृष्ण के लोक-रक्षक और लोक-रंजक रूपों की झाँकी दिखाई। निराश जनता बहुत दिनों से भगवान् के अवतार की प्रतीक्षा में थी, उसके प्रभु धर्म-रक्षा हेतु शीघ्र ही

अवतार लेंगे। यह बात सुनकर वह प्रफुल्लित हो गयी और बड़ी ही निष्ठा के साथ अध्यात्म की ओर झुक गयी। श्रीकृष्ण की लीला-भूमि ब्रज में इस समय स्वामी वल्लभाचार्य ने कृष्ण की प्रेम-स्वरूपा भक्ति की प्रतिष्ठा की। उनके अष्टछाप के शिष्यों ने, जिनमें महात्मा सूरदास जी प्रमुख थे, भगवान् श्री कृष्ण के प्रेममय स्वरूप को लेकर दिव्य प्रेम की ऐसी संगीत-धारा बहाई जिस से लोक-हृदय का सम्पूर्ण नैराश्य बह गया और उसमें जीवन के प्रति अनुराग पैदा हो गया।

सूरदास की कविता का वर्ण्य-विषय—महात्मा सूरदासजी ने भगवान् कृष्ण के प्रेममय रूप का ही वर्णन किया है। इसके लिए उन्होंने भगवान् के बाल और यौवन रूप को चुना है। इस प्रकार उनकी रचना प्रेम के तीन रूपों को लेकर चलती है। उनके विनय के पद भगवद्विषयक रति के अंतर्गत आते हैं और बाल लीला के पद 'वात्सल्य' के अंतर्गत तथा दाम्पत्य रति के पद शृंगार के अंतर्गत आते हैं। सूरदास जी ने भगवान् श्रीकृष्ण के उस लोक-रक्षक रूप का, जो दुष्टों का संहार करने वाला और सज्जनों की रक्षा करने वाला है, दिग्दर्शन नहीं कराया है इसलिए उनके काव्य का क्षेत्र बहुत कुछ परिमित और संकुचित हो गया है फिर भी जितना क्षेत्र उन्होंने चुना है, उसको बहुत समृद्ध किया है। शृंगार और वात्सल्य के क्षेत्र में हिन्दी साहित्य का कोई भी कवि उनकी समता नहीं कर सकता।

सूरदास के काव्य की समीक्षा—महात्मा सूरदास जी ब्रजभाषा के गीत-काव्य के प्रथम महाकवि हैं। इनके पूर्व पद-शैली में कबीर आदि कतिपय निर्गुणी सन्तों ने, 'सधुक्कड़ी' अर्थात् मिश्रित भाषा में रचनाएँ की थीं अतएव

पद-शैली में सगुण-लीला सम्बन्धी गीत रचने का श्रेय सर्वप्रथम सूरदास जी को है। सूरदास जी ने श्रीकृष्ण की बाल-लीला का वर्णन अत्यन्त मनोहारी ढंग से किया है। बधाई से लेकर गोचारण की किशोरावस्था तक के सैकड़ों मोहक चित्र दिखाये हैं। बालकों की अंतःप्रकृति का उद्घाटन जितनी विशदता के साथ इन्होंने किया है वैसा अन्य कोई कवि नहीं कर सका। मातृ हृदय की भावनाओं का वर्णन करने में भी सूर की वृत्ति बहुत रमी हुई है। श्रीकृष्ण जी बचपन से ही व्रज में रह रहे थे। अतएव उनके साहचर्य और सौन्दर्य का प्रभाव गोपियों पर गहरा पड़ा था। सूर ने अपने पदों में इसको भली-भाँति व्यक्त किया है। इनकी गोपियों का प्रेम किसी साधारण घटना के घटित होने का फल नहीं है। सूरदासजी ने गोपियों के प्रेम का विकास प्रकृत रूप में दिखाया है इसलिए वह अस्वाभाविक नहीं जान पड़ता। सूरदासजी का संयोग और वियोग वर्णन वास्तव में संयोग और वियोग वर्णन के लिए ही है। इन्होंने गोपियों के मिलन को पूर्ण मिलन तथा वियोग को पूर्ण वियोग के रूप में दिखाया है और संयोग एवं वियोग के बीच में पड़ने वाली परिस्थितियों की कहीं भी परवाह नहीं की है इसलिए संयोग और वियोग दोनों के वर्णन में उन्हें पूर्ण सफलता मिली है। पर वियोग वर्णन में जहाँ कहीं इन्होंने ऊहात्मक पद्धति का अनुसरण किया है, वहाँ वर्णन एकदम अस्वाभाविक हो गया है। इन्होंने भक्ति-विरोधी ज्ञान की सच्चे प्रेम के सामने जैसी उपेक्षा की है उसका वर्णन भ्रमरगीत के अनेकों पदों में मिलता है। इन्होंने प्रकृति-वर्णन भी बड़े मार्मिक ढंग से किया है सच पूछिए तो बाल-लीला, गोचारण, रास-लीला और गोपियों के विरह आदि का वर्णन करने में सूर ने जो सफलता पाई है उस

में प्रकृति के नाना रूपों का वर्णन अपनी विशेष महत्ता रखता है। सूरदास जी में भावुकता और वाग्विदग्धता कूट-कूट कर भरी है। इनके वर्णन का ढंग बहुत ही अनोखा है। एक ही बात को ये अनेकों प्रकार से घुमा-फिराकर एक विचित्र भावभंगी के साथ कह जाते हैं। सब से विचित्र बात तो यह है कि इन पदों में नवीनता के ही दर्शन होते हैं। सूरदास जी ने अपने 'सूर-सागर' में प्रायः सभी राग-रागिनियों का वर्णन किया है जिससे उनकी रचनाएँ संगीत प्रेमियों का भी सर्वस्व बन गयी हैं। सूरदासजी की प्रकृति विनोदशील थी इसलिए इन्होंने कुछ दृष्टिकूट पद भी लिखे हैं। ये भाव-राशि के स्वामी तो थे ही, काव्य के बाह्य-उपकरण अर्थात् अलंकार आदि भी इनके हाथ से नहीं जाने पाये। उपमा, रूपक और उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों का प्रयोग इन्होंने प्रचुर परिमाण में किया है। इन्होंने जिस तन्मयता के साथ भगवान् श्रीकृष्ण की लीला का वर्णन किया है उसी तन्मयता के साथ प्रभु की विनय भी की है। इन्होंने अपने प्रभु की शक्ति का वर्णन करने में विशेष रुचि नहीं दिखायी है यही कारण है कि भगवान् श्रीकृष्ण का लोक-रक्षक रूप जनता के सामने न आ सका। श्रीकृष्ण और राधा के प्रेम का जो वर्णन सूरदासजी ने किया उसको साधारण जनता ठीक-ठीक न समझ सकी और कुछ समय बीतने पर इसका फल यह हुआ कि गाँवों के अश्लील गीतों तक में नायक के स्थान पर श्रीकृष्ण और नायिका के स्थान पर राधिका का नाम आने लगा। कहने का तात्पर्य यह कि सूरदासजी अपनी विचारधारा में सदैव मग्न रहने वाले व्यक्तियों में से थे, संसार में क्या हो रहा है इसकी उन्हें परवाह न थी।

भ्रमरगीत—महात्मा सूरदासजी ने अपने 'सूरसागर' के अंतर्गत भ्रमरगीत का वर्णन बहुत सुन्दर

किया है। भ्रमरगीत की यह कथा श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध के ४७ वें अध्याय से ली गयी है जो इस प्रकार है—

श्रीकृष्ण अक्रूर के साथ कंस के बुलाने पर मथुरा गये। ब्रज से जाते समय उन्होंने ब्रजवासियों से इस बात का वादा किया था कि वे एक पक्ष के अन्दर मथुरा से लौट आयेंगे किन्तु कंस का वध कर चुकने पर भी वे मथुरा से निश्चित अवधि के भीतर वापस न लौट सके। कारण यह था कि वे कंस की दासी कुब्जा के प्रेम-पाश में फँस गये। जब श्रीकृष्णजी ब्रज को नहीं लौटे तो नन्द, यशोदा और सारे ब्रजवासी बहुत दुखी हुए। श्रीकृष्ण की प्राण-प्यारी गोपियों की भी बड़ी बुरी दशा थी, वे सभी कृष्ण की वियोगाग्नि में तड़प रही थीं। ब्रज से कितने ही सन्देश कृष्ण के पास भेजे गये किन्तु सारा प्रयास व्यर्थ रहा। श्रीकृष्ण जी ब्रज को नहीं लौट सके पर गोपियों की वियोग दशा की चिन्ता कर उन्होंने अपने मित्र उद्धव को उन्हें समझाने-बुझाने के लिये भेजा। भगवान् लीलानायक हैं, उनका कोई भी कार्य व्यर्थ नहीं होता। उद्धवजी को भेजने में उनका एक विशेष अभिप्राय यह था कि उद्धव जी को अपने ज्ञान का गर्व था। श्रीकृष्ण जब कभी उनसे गोपियों के विशुद्ध प्रेम की चर्चा करते तो वे अपनी ज्ञान-गरिमा द्वारा उसका खण्डन करते थे और अपने एक निर्गुण ब्रह्म की प्रतिष्टा करते थे। श्रीकृष्णजी ने उद्धव को बहुत समझाया किन्तु उद्धव की समझ में जब कुछ भी न आया तब श्रीकृष्णजी ने सोचा कि उद्धव को ब्रज भेज देना चाहिये। वहाँ गोपियों के उमड़ते हुए विरह सागर की तरंगों में इनका यह भक्ति विरोधी ज्ञान आप-से-आप लुप्त हो जायगा। सूरदासजी ने एक पद में इसका उल्लेख भी किया है—

त्रिगुण तन करि लखत हमको, ब्रह्म मानत और।
बिना गुण क्यों पुहुमि उधरै, यह करत मन डौर ॥
विरह रस को मन्त्र कहिए, क्यों चलै संसार।
कछु कहत यह एक प्रगटत, अति भरयौ हंकार ॥
प्रेम भजन न नेकु याके, जाय क्यों समझाय ?
'सूर' प्रभु मन यहै आनी, व्रजहिं देहुँ पठाय ॥

फिर क्या था, गोपियों को ज्ञान की शुष्क शिक्षा देने और उन्हें समझाने-बुझाने के लिए उद्धव जी व्रज भेजे गए। व्रज आने पर वहाँ के सभी निवासियों ने उन्हें घेर लिया और श्रीकृष्ण का कुशल-समाचार पूछने लगे। सब को यथोचित उत्तर देकर उद्धवजी ने कृष्ण की उस चिट्ठी को, जो उन्होंने गोपियों के लिए लिखा था, पढ़ना आरम्भ किया किन्तु विरह-विधुरा गोपियों की दशा देखकर उनके नेत्रों में आप-से-आप प्रेम के आँसू उमड़ आये, चिट्ठी पढ़ी न जा सकी। विवश हो उद्धवजी प्रेम-गाथा के बजाय अपनी ज्ञान-गाथा कहने लगे—

जो व्रत मुनिवर ध्यावहीं, पै पावहिं नहिं पार।
सो व्रत सीखो गोपिका, हो, छाँड़ि विषय विस्तार ॥

इसी बीच में एक भ्रमर कहीं से उड़ता हुआ आकर गोपियों के पास मँडराने लगा। अब गोपियाँ उससे पूछने लगीं—

पूछन लागीं ताहि गोपिका, "कुब्जा तोहिं पठायौ ?
कैधौं 'सूर' स्यामसुन्दर को, हमैं संदेसो लायौ ?"

इसके अनन्तर गोपियाँ इसी भ्रमर को सम्बोधित करती हुई, जो चाहती हैं, कहने लगती हैं। इसी से इस प्रसंग का नाम 'भ्रमरगीत' पड़ा है।

तात्विक-दृष्टि से 'भ्रमरगीत' में योगसाधना, निर्गुण उपासना और भक्ति-विरोधी ज्ञान की उपेक्षा की गयी है। इसमें बताया

गया है कि ये मार्ग ठीक भले ही हों किन्तु साधारण समझ के लोगों के लिए ये अव्यवहार्य हैं। इसमें प्रमुख रूप से भगवान की सगुण भक्ति और प्रेम को ही अधिक महत्व दिया गया है। गोपियाँ इस विषय में कहती हैं—

जो कोउ पावै सीस दै, ताको कीजे नेम।
मधुप हमारी सौं कहौ, हो, जोग भलो की प्रेम॥
प्रेम प्रेम सौं होय, प्रेम सौं पारहिं जैए।
प्रेम बंध्यौ संसार, प्रेम परमारथ पैए॥
एकै निहचै प्रेम को, जीवन मुक्ति रसाल।
साँचो निहचै प्रेम को, हो, जो मिलिहैं नन्दलाल॥

अपने ज्ञान पर गर्व करने वाले उद्धव जी अन्ततोगत्वा गोपियों के प्रेम की लहरों में बह गए। वे कहने लगे—

उपदेसन आयो हुतो, मोहिं भयो उपदेस।

फिर तो उनकी दशा ऐसी हुई कि—

छुन गोपिन के पग धरैं, धन्य तिहारो नेम।
धाय धाय द्रुम भेंटहीं, हो ऊधो छाके प्रेम॥

इस प्रकार लोक-प्रचलित प्रेम की प्रतिष्ठा मान लेने पर 'भ्रमरगीत' की समाप्ति हो जाती है।

सूरदास की गोपियाँ—श्रीकृष्ण के वियोग में तड़पती हुई व्रजबालाओं का श्रीकृष्णजी से प्रेम करना आकस्मिक बात नहीं थी वस्तुतः उनका यह 'लरिकाई को प्रेम' था जिसे वे श्रीकृष्ण के बिछुड़ने पर भी नहीं भुला सकीं। श्रीकृष्ण के वियोग की आँच से तपकर उनका प्रेम अलौकिक हो उठा था। उनमें कितना विरह था, इसे कौन जान सकता है। इन गोपियों की प्रेम-साधना ऐकान्तिक थी, संसार को ये एकदम भूल चुकीं थीं।

इनको आँखों के सामने सदैव आनन्द-कन्द श्याम की त्रिभंगी मूर्ति दिखाई पड़ती थी। तर्क-वितर्क करना तो ये जानती ही नहीं थीं। ये उद्धव से सीधे-सीधे अपने मन की बात कह देती हैं कि हे उद्धवजी ! आप हमें योग की बात न सिखाइए, आप कुछ ऐसी युक्ति बताइए जिससे श्यामसुन्दर के दर्शन हों, देखिए न हमारी ये—

अँखियाँ हरि दरसन की भूखी।
कैसे रहैं रूप-रस राँची, ये बतियाँ सुनि रूखी॥
अवधि गनत इकटक मग जोवत, तब एती नहिं झूँखी।
अब इन जोग संदेसनि ऊधो, अति अकुलानी दूखी॥
बारक वह मुख फेरि दिखाओ, दुहि पय पियत पतूखी।

इसलिए उद्धव, हमें श्रीकृष्ण की कथा सुनाइये और अपनी इस योग-कथा को मथुरा ही ले जाइये। वहाँ की नगर-नारियाँ इसे अच्छी तरह समझेंगी।

हमको हरि की कथा सुनाव।
अपनी ज्ञान कथा हो ऊधो, मथुरा ही लै जाव॥
नागरि नारि भले बूझैंगी अपने बचन सुभाव।
पालागौं इन बातनि रे अलि! उन ही जाय रिझाव॥

हे उद्धवजी, आप पहले ब्रज की दशा को तो देखें फिर अपनी इस योग गाथा को यहाँ प्रचारित करें। जरा सोचें तो सही कि विरह और परमार्थ-साधन में कितना अन्तर है—

ऊधो ब्रज की दशा विचारो।
ता पाछे हे सिद्ध! आपनी योग कथा विस्तारो॥
जेहि कारन पठये नंदनन्दन, सो सोचहु मन माहीं।
केतिक बीच विरह परमारथ, जानत हौ किधौं नाहीं॥

इसके पश्चात् गोपियाँ कहती हैं कि हमारी बुद्धि बहुत छोटी है बताइए ऐसी दशा में हम आपकी निर्गुण ब्रह्म की बातें कैसे

समझें ? हाँ, यदि आप अपने ब्रह्म को प्रत्यक्ष पीताम्बरधारी के रूप में दिखा दें तो हम आपकी बातों पर विश्वास कर लें।

तौ हम मानैं बात तुम्हारी।
अपनो ब्रह्म दिखावहु ऊधो मुकुट पिताम्बर धारी॥

देखिए, सच्ची बात पहचानने की कितनी सीधी उक्ति है, निश्चय ही बड़े-बड़े तर्क शिरोमणि भी गोपियों के प्रत्यक्ष-प्रमाण के इस दावे को झूठा नहीं कर सकते; औरों की तो बात ही क्या। अब तो उद्धव की कपट-कलई खुल जाती है। गोपियाँ उन्हें धूर्त और ठग समझने लगती हैं फिर तो वे कहती हैं—

जोग ठगौरी ब्रज न बिकैहै।
यह ब्यौपार तिहारो ऊधो मथुरा ही फिरि जैहै॥

कहीं-कहीं पर तो गोपियों ने उद्धवजी से स्पष्ट कह दिया है—

ऊधो तुमहुँ सुनो इक बात।
जो तुम करत सिखावन सो हमैं, नाहिं न नेकु सुहात॥

गोपियाँ श्रीकृष्ण के वियोग से दुखी हैं। श्रीकृष्ण के आने पर ही उन्हें चैन मिल सकता है इसलिये वे उद्धवजी से सिफारिश करती हैं—

'सूरदास' अब सोइ करौ जिहि होइ कान्ह को ऐबो।

किन्तु वे फिर सोचती हैं कि श्रीकृष्ण अब ब्रज कैसे आ सकेंगे—

अब हरि गोकुल काहे को आवहिं, चाहत नवजोबनियाँ॥
दिना चारि तें पहिरन सीखे, पट पीताम्बर तनियाँ।
'सूरदास' प्रभु तजी कामरी, अब हरि भये चिकनियाँ॥

भगवान् श्यामसुन्दर ब्रज नहीं लौटेंगे यह बात उनके हृदय में बैठ-सी जाती है और वे सैकड़ों प्रकार से उद्धवजी से यही

अनुरोध करती हैं कि वे उन्हें किसी प्रकार व्रज लावें। अन्त में कहती हैं—

"कहा करौं निरगुन लेके हौं, जीवहु कान्ह हमारे।

इस प्रकार आशीर्वाद देती हुई उद्धवजी को विदा करती हैं। उद्धवजी व्रज में ज्ञान की बातें सिखाने आये थे किन्तु गोपियों का विरह-सागर इतना उमड़ा कि उनका सारा ज्ञान-गौरव उसी में पता नहीं कब और कैसे विलीन हो गया। इस प्रकार भक्ति-विरोधी ज्ञान पर सच्चे प्रेम ने विजय पायी। गोपियों से पराजित हुए उद्धवजी मथुरा लौटकर जब श्रीकृष्ण से मिले तो दुखित होकर कहने लगे—

कहो तो सुख आपनो सुनाऊँ।
व्रज जुवतिन कहि कथा जोग की, क्यों न इतो दुख पाऊँ॥
हौं थक बात कहत निरगुन की, वाही में अटकाऊँ।
वे उमड़ीं वारिधि तरंग ज्यौं, जाकी थाह न पाऊँ॥
कौन-कौन को उत्तर दीजै, तातें भज्यौं अगाऊँ।

निष्कर्ष यह कि सूरदासजी की गोपियाँ यद्यपि ग्रामीण हैं, अल्प-बुद्धि की गवाँरिनी हैं किन्तु उनके हृदय में विरह का इतना बड़ा अगाध-सागर उमड़ रहा है कि उसकी थाह लगाने या उसको पार करने का कोई साहस ही नहीं कर सकता है। यह बात स्मरणीय है कि सूरदास की गोपियों की विजय उनके हृदय-स्थित विशुद्ध प्रेम के कारण हुई है, पांडित्य अथवा तर्क से नहीं।

भाषा और शैली—सूरदासजी की भाषा बहुत ही स्वाभाविक, कोमल और चलती हुई है। इन्होंने लोकप्रचलित मुहाविरों और कहावतों का अनेक स्थलों पर प्रयोग किया है। शब्दों को बहुत-कम तोड़ा-मरोड़ा है। भाषा की स्वाभाविक

गति में कहीं भी अलंकारों के कारण बाधा नहीं पड़ने दी है। 'कूट' के पदों में ही इन्होंने अलंकारों की भरती की है। भाषा में इन्होंने संगीतात्मकता की ओर रुचि दिखायी है। इनकी शैली बड़ी ही अनूठी है, भावाभिव्यंजन का ऐसा आकर्षक ढंग हिन्दी के कुछ इने-गिने कवियों में ही ढूँढ़ने पर मिलता है। सूरदासजी की शैली की यह सब से बड़ी विशेषता है कि वे बड़ी-से-बड़ी या छोटी-से-छोटी बात को ऐसी भावभंगी से व्यक्त कर देते हैं कि पाठक तत्काल उस से प्रभावित हो जाता है। इनकी भाषा में स्थान-स्थान पर व्यंग का रंग चढ़ा हुआ है।

१—श्री सूरदास

—::०:::०:::०::—

बिलावल

१—शब्दार्थ—बन्दौं—वन्दना करता हूँ ; हरि राई—स्वामी कृष्ण ; जाकी—जिसकी ; गिरि—पर्वत ; दरसाई—दिखाई देना है ; मूक—गूँगा ; रंक—गरीब ; धराई—धारण करके ; पाई—पद, चरण ।

भावार्थ—महात्मा सूरदासजी कहते हैं कि मैं स्वामी कृष्ण के चरण-कमल की वन्दना करता हूँ जिसकी कृपा से लंगड़ा व्यक्ति पर्वत को पार कर जाता है, अन्धा व्यक्ति सब कुछ देखने लगता है, बहिरा व्यक्ति सुनने लगता है, गूँगा फिर से बोलने लगता है और अत्यन्त गरीब व्यक्ति सिर पर छत्र धारण कराकर चलने लगता है अर्थात् सम्राट हो जाता है। ऐसे करुणामय स्वामी के चरणों की मैं बार-बार वन्दना करता हूँ।

टिप्पणी—इस पद में महात्मा सूरदासजी ने भगवत्कृपा की महत्ता प्रतिपादित की है। 'अन्धे को सब कुछ दरसाई' में कवि की ओर भी संकेत है। यह पद वैराग्य प्रधान है, इसमें शान्त रस व्याप्त है।

गौरी

२–शब्दार्थ—गति—पहुँच ; पति—स्वामी ; अन्तहि—अन्यत्र ; हौं—मैं ; तिहारो—तुम्हारा ; हय—घोड़ा ; गयन्द—हाथी ; गर्दभ—गधा ; पाटंबर—रेशमी वस्त्र ; अम्बर—वस्त्र ; तजि—छोड़कर ; गूदर—चिथड़ा ।

भावार्थ—महात्मा सूरदासजी कहते हैं कि हे स्वामी कृष्ण ! तुम्हीं तक मेरी पहुँच है। अन्यत्र जाने पर मुझे दुःख मिलता है। अब तक तो मैं तुम्हारा दास प्रसिद्ध रहा किन्तु अब (तुम्हारे त्याग देने पर) किसका दास कहलाऊँ ? आपकी भक्ति कामधेनु के सदृश्य है, भला उसको छोड़कर बकरी के दूध के समान फलप्रद अन्य देवी-देवताओं की उपासना कैसे करूँ ? मैं जब घोड़े और हाथी की सवारी कर चुका तो गधे पर चढ़कर कैसे दौड़ूँ ? जब मैं सुवर्ण की मणियों की माला पहन चुका तो काँच की माला कैसे पहनूँ ? मैं कुंकुम के तिलक को मिटाकर मुख में काजल कैसे पोतूँ ? सुन्दर रेशमी वस्त्रों का पहिनना छोड़कर चिथड़े,और फटे-पुराने वस्त्रों को कैसे धारण करूँ ? आम के फल को छोड़कर सेमल के फल की ओर क्यों दौड़ूँ ? सागर की लहरों में स्नान करना छोड़कर पोखरी या तालाब में कैसे स्नान करूँ ? हे नाथ ! यह सब अब मुझ से न हो सकेगा। मैं हठी और अन्धा व्यक्ति हूँ मैं तो आप के ही द्वार पर पड़ा रहकर आपका गुणगान करूँगा।

टिप्पणी—इस पद में महात्मा सूरदासजी प्रभु से आत्म-निवेदन करते हैं। वे कहते हैं कि हे प्रभो ! आप मुझे भले ही त्याग दें पर मैं आपको किसी प्रकार नहीं छोड़ सकता। महात्मा जी का हठ इस पद में देखने योग्य है। इसमें द्वितीय उल्लेख अलङ्कार है। भाषा-भूषण में लिखा है—'बहु विधि बरनें एक कौं, बहु गुन सौं उल्लेख।"

सारङ्ग

३—**शब्दार्थ**—अनत—अन्यत्र ; सचु—सुख ; पंछी—पत्ती ; दुर्मति—दुर्बुद्धि ; मधुकर—भौंरा ; अम्बुज-रस—पराग ; चाख्यो—स्वाद लिया है ।

भावार्थ—महात्मा सूरदासजी कहते हैं कि मेरा मन (भगवच्चरणों की अलभ्य सेवा त्यागकर) अन्यत्र कहाँ शान्ति और सुख पा सकता है । संयोग से यदि कभी यह बहुदेवोपासना के लोभ में पड़ा तो फिर इधर-उधर भटककर यह पुनः प्रभु के शरण में उसी प्रकार आ जायगा जैसे जहाज के ऊपरी भाग पर बैठा हुआ पत्ती विशाल समुद्र में इधर-उधर उड़कर और अपनी रत्ता कहीं पर न देखकर फिर उसी जहाज की शरण लेता है जिसे उसने त्याग दिया था; इसलिए कमल-नयन भगवान् श्रीकृष्ण के माहात्म्य को छोड़कर अन्य देवी-देवताओं की उपासना करने कौन जाय ? यदि मैं ऐसा करूँ भी, तो मेरा परिश्रम उसी प्रकार व्यर्थ हो जायगा जिस प्रकार कोई दुर्बुद्धि प्यासा होकर भी गंगाजी के परम कल्याणकारी शीतल जल को छोड़कर तत्काल कुआँ खोदने का व्यर्थ उपाय करता है । भला, जिस भौंरे ने पराग का रस चख लिया है उसे करील क्यों अच्छा लगने लगे अतएव अपने प्रभु श्रीकृष्ण को, जो कामधेनु के समान सभी प्रकार की कामना को पूर्ण करने वाले हैं, छोड़कर अन्य देवी-देवताओं की शरण में कौन जाय जो कि बकरी के समान परिमित मात्रा में दूध-मात्र ही प्रदान करने वाले हैं ।

टिप्पणी—सिद्धान्त की दृष्टि से यह पद अत्यन्त महत्व-पूर्ण है ; इसमें बहुदेवोपना का लोभ छुड़ाकर जीव को केवल प्रभु श्रीकृष्ण की आराधना करने के लिए कहा गया है । 'जैसे

उड़ि जहाज़ कौ पंछी' आदि में दृष्टान्त अलंकार है। भाषा-भूषण में इसका लक्षण इस प्रकार है :—

"अलंकार दृष्टान्त सो लच्छन नाम प्रमान।"

सारङ्ग

४—शब्दार्थ—हरिहिं—श्रीकृष्ण को; गहऊँ—ग्रहण करा दूँ; छत्रिय-गतिहि—वीरगति को; सरिता—नदी; पीठ दिखाऊँ—हार कर भागूँ।

सन्दर्भ—महाभारत के युद्ध में सुयोधन और अर्जुन को सहायता देते समय श्रीकृष्ण ने अपनी शक्ति का इस प्रकार विभाजन किया था कि एक ओर मेरी दश करोड़ सशस्त्र सेना रहेगी जो सभी जगह लड़ेगी और दूसरी ओर मैं अकेला निरस्त्र रहूँगा। वीर अर्जुन ने श्रीकृष्ण को चुना और युद्ध में उनसे सारथी का काम लिया। एक दिन जब भीष्म के सेनापतित्व में कौरवी सेना का भयानक संहार अर्जुन ने किया तो सुयोधन को दुःख हुआ उसके इस सन्ताप को मिटाने के लिए भीष्म पितामह जी ने यह संकल्प किया—

भावार्थ—"यदि आज मैं ने श्रीकृष्ण को शस्त्र न ग्रहण करा दिया तो मैं माता गङ्गा जी को लज्जित करूँ और मैं शान्तनु का पुत्र न कहलाऊँ। मैं युद्ध में (साधारण) रथों को खण्डित कर अर्जुन के रथ को भी चूर्ण-चूर्ण कर दूँगा और अर्जुन के रथ की कपि-ध्वजा को हिला दूँगा। मैं पाण्डवों की सेना के सामने (प्राणों की बाजी लगाकर) दौड़ूँगा और रक्त की नदी प्रवाहित कर दूँगा और जीते जी अर्जुन के मित्र श्रीकृष्ण को पीठ न दिखाऊँगा।" यदि मैं ऐसा न कर सकूँ तो मुझे भगवान् की शपथ है मैं वीर-गति को न प्राप्त होऊँ।

टिप्पणी—भीष्म पितामहजी की इस वीरतापूर्ण गर्वोक्ति में वीर रस का पूर्ण निर्वाह हुआ है। गीत शैली में वीर रस का वर्णन हिन्दी साहित्य में बहुत कम मिलता है, इस दृष्टि से इस पद का बहुत महत्व है।

आसावरी

५—**शब्दार्थ**—परितिग्या—प्रतिज्ञा ; मम—मेरे।

सन्दर्भ—महाभारत के युद्ध के अवसर पर श्रीकृष्णजी अर्जुन को उपदेश देते हैं।

भावार्थ—ऐ अर्जुन ! सुन। "मैं भक्तों का सर्वस्व हूँ और भक्त मेरे सर्वस्व हैं।" यही मेरी प्रतिज्ञा है, इस व्रत को किसी के टलाने से मैं टाल नहीं सकता हूँ। भक्तों पर सङ्कट पड़ने से मुझे अपने हृदय में लज्जा लगती है और मैं तुरन्त अपने भक्त की सहायता करने नंगे पैर दौड़ पड़ता हूँ। भक्तों पर जहाँ-जहाँ सङ्कट पड़ता है, वहाँ-वहाँ जाकर मैं उन्हें छुड़ाता हूँ। जो मेरे भक्त से शत्रुता करता है वह मेरा शत्रु है। इसे तू भली-भाँति विचार करके देख ले कि मैं अपने भक्त (अर्जुन) की भलाई की कामना से तेरा रथ हाँक रहा हूँ। भक्तों की विजय ही मेरी विजय है और उनकी पराजय मेरी पराजय है। इसलिये मैं जब किसी को भक्त-विरोधी जान पाता हूँ तो उसे चक्र-सुदर्शन से भस्म कर देता हूँ।

टिप्पणी—इस पद में भगवान् के श्रीमुख से इस विश्वास की पुष्टि की गयी है कि वे भक्तों के रक्षक हैं और दुष्टों तथा आततायियों के संहारक हैं।

सारङ्ग

६-**शब्दार्थ**—पटपीत—पीताम्बर ; अवनि—पृथ्वी ; कच—केश ; रज—धूल ; सैल—पर्वत ।

प्रसङ्ग—बाणों की शय्या पर पड़े हुए व्यथित भीष्म पितामह जी को श्रीकृष्ण जी अपना अन्तिम दर्शन दे रहे हैं । प्रभु को सामने आया देखकर भीष्म जी को युद्ध का वह दृश्य स्मरण हो आता है, जब भगवान् श्रीकृष्ण उनकी विकट बाण वर्षा से व्याकुल होकर रथ का चक्र उखाड़ उन्हें मारने दौड़े थे । इसी का वर्णन सूरदास जी कर रहे हैं ।

भावार्थ—भीष्म पितामह कहते हैं कि श्रीकृष्ण का वह रूप, जब कि युद्ध क्षेत्र में घोड़ों की टाप और रथों के पहियों के द्वारा उठी हुई धूल में उनके केश सन गये थे; उस समय मेरी विकट बाण-वर्षा से अत्यन्त क्षुब्ध होकर उनका रथ से व्याकुलता के साथ उतरना और हाथ में चक्र लेकर अपने पीताम्बर को फहराते हुए मेरी ओर दौड़ना, मुझे भूलना ही नहीं । उनका रथ से क्रोधित होकर उतरना ऐसा लगता था मानों महामत्त गजराज को देखकर कोई सिंह पर्वत की कंदरा से अचानक निकला हो । जिन गोपाल ने वेद की मर्यादा मिटाकर अर्थात् अपनी प्रतिज्ञा भंग कर मेरी प्रतिज्ञा पूरी की है वे ही मेरे एकमात्र सहायक हैं और (अपना अन्तिम दर्शन देने के लिये) मेरे निकट खड़े हैं ।

टिप्पणी—दो पंक्तियों में श्रीकृष्ण का क्रोधावेश का चित्र अंकित होना इस पद की विशेषता है । 'मानों सिंह सैल तें निकस्यो' में उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ।

सोरठ

७-शब्दार्थ—मना रे—ऐ मन ; परिमिति—सीमा ; घन—बादल ; वारि—जल ; सरहि—तालाब के साथ ; मीन—मछली ; बरजत—मना करते हैं ; कुरंग—हिरन ; असन—भोजन ।

भावार्थ—महात्मा सूरदास जी कहते हैं कि ऐ मन ! तू काम, क्रोध, लोभ, मद और मोह से विमुख होकर इन का परित्याग कर दे और एकमात्र श्रीकृष्ण भगवान में ही प्रेम कर । देख, भोगी (रसलोलुप कामी) भ्रमर पराग के लिए जंगल-जंगल नाचता है, सदैव प्रसन्न रहता है और किसी प्रकार के ताप (दैहिक दैविक, भौतिक) की परवाह नहीं करता । भौंरा अनेक प्रकार के पुष्पों का रस लेता है किन्तु अंत में वह कमल के पास जाकर अपने को बँधा लेता है । अब तू प्रेम की मर्यादा को भी सुन ले । पपीहा बादल से प्रेम करता है और सदा इसी की ओर टकटकी लगाये रहता है । मेघ-दर्शन की आशा रखकर वह सब प्रकार के दुख सहता है और वह अन्यत्र कहीं भी जल की याचना नहीं करने जाता । प्रेम की मर्यादा तू कमल की करनी से भी देख ले । उसने जल से प्रेम किया । जब तालाब का जल सूखने लगा तो वह भी साथ में सूख गया । इस प्रकार उसने प्रेम को रखकर प्राण का परित्याग कर दिया । प्रेम एकाङ्गी भी प्रायः होता है इसको जल और मछली के व्यवहार में देख ले । यद्यपि जल मछली की बात भी नहीं पूछता अर्थात उस की कुछ भी परवाह नहीं करता; किन्तु मछली उसका पल भर भी—वियोग नहीं सह सकती; वह अपने प्राणों का परित्याग कर देती है; किन्तु प्रेम को रत्ती भर भी कम नहीं होने देती । परेवा पक्षी की प्रीति

को भी देखो। उस का प्रेम आकाश की ओर होता है। जब वह अपने प्रेमी से निराश होता है तो वह अपनी अंतिम श्वास को छोड़कर पृथ्वी पर आ गिरता है। हिरन के प्रेम का भी तू स्मरण कर ले। उसके कर्ण को राग-रागनियाँ बहुत रुचिकर लगीं। इसी प्रेम के कारण वह व्याध के बाणों से बेध दिया गया; किन्तु उसने अपना पैर पीछे नहीं रक्खा। भोली-भाली स्त्री के जलने को भी देख ले कि वह प्रेत के संग जल जाती है। मृत प्रियतम के संग जल जाने के हेतु जो चिता रची जाती है उसे देखकर उसका चित्त तनिक भी फीका नहीं होता। अब तू चोर का भी प्रेम देख ले। सारा संसार और वेद-शास्त्र उसे चोरी करने के लिए मना करते हैं। अपने नेत्रों से वह हर प्रकार के त्रास देखता है तथा अपना सर्वस्व विनाश देखता है फिर भी हृदय से चोरी नहीं छोड़ता। तू ने मनुष्य-शरीर-रूपी सुन्दर रत्न पाया है और साधुओं की संगति की है। उनसे आये दिन प्रेम की अनेक कथाएँ भी सुनी हैं फिर भी तुझमें कुछ लाज न आयी। जो हरि, ईश्वर व भगवान् तेरे अपने साथी रहे हैं और तेरे जीव के जीवनदाता हैं उन्हें तूने सहज ही भुला दिया। वेद, पुराण, स्मृति तथा देवता और मनुष्य सभी जिसकी सेवा करते हैं उसकी, ऐ कुबुद्धि से पूर्ण महामूर्ख, मन! क्यों नहीं सेवा करता। मैं ने पक्षी से लेकर हरिन, मछली और पतिंगे तक सब कहीं प्रेम की जाँच की। जल में रहने वाले और स्थल पर निवास करने वाले सभी जीवों में मैं ने प्रेम की झाँकी देखी, अब मैं और क्या कहूँ? जो प्रभु सर्व-विधि परिपूर्ण हैं, पवित्र हैं, मित्र हैं और प्राणों के स्वामी हैं तथा जो अत्यन्त दयालु प्रभु हैं और जिनके हाथ में जीवन का सूत्र है। ऐ शठ! सुन। उन प्राणनाथ ने उस समय, जब कि तू गर्भाशय में त्रस्त और असहाय था, तेरी रक्षा की।

गर्भ में उन्होंने तेरी उसी प्रकार रक्षा की है जिस प्रकार तम्बोली पान की रक्षा करता है। कुछ दिनों के पश्चात उन्होंने तेरी इस संकट से मुक्ति की और तेरे पीने के लिए दूध माता के स्तनों में दिया। इस प्रकार परमात्मा ने पञ्च-तत्वों और त्रय-गुणों का विशुद्ध-वि ान रचकर तुझे जड़ में चैतन्य किया और तुझे हाथ, पैर, नख, केश, नासिका और कान आदि दिये तथा यथावसर अनेक प्रकार के भोजन और वस्त्र दिये। तेरी नयी सांच को देखकर उन्होंने तुझे माता, पिता और भाई दिये। कुछ दिन बीतने पर यमराज का बुलावा (सम्मन) तुझे मिला। संसार ने इसको सुना किन्तु उस समय सभी तेरी बुराई की चर्चा करने में ही संलग्न थे। कोई भी तेरी रक्षा न कर सका। यम के दूतों ने तेरे प्राणों को शीघ्र ही निकाल लिया। ऐ दुर्बुद्धि ! तेरी मृत्यु इस प्रकार हुई कि कोई भी यह न जान सका कि तू कहाँ किस प्रकार मरा। ऐ नीच ! तू भगवान् के द्वारा की गयी भलाई को भुलाकर सुख चाहता है। यदि तेरे हृदय में तनिक भी लज्जा नहीं है तो मैं तुझसे सैकड़ों बार क्या कहूँ। ऐ मूर्ख मन ! तू ने अब तक एक बार भी प्रेम से प्रभु का नाम स्मरण नहीं किया है।

टिप्पणी—यह पद वैराग्यपूर्ण है। महात्मा सूरदास जी ने इसमें पहले प्रेम के कतिपय दृष्टान्त दिये हैं। फिर मन को कहा है कि यह देह "साधन-धाम, मोच्छ कर द्वारा" है। तू इससे साधना कर। इसके पश्चात् गर्भवास आदि संकटपूर्ण अवस्थाओं में भगवान् जीव को किस प्रकार सहायता करते हैं, यह चित्रित किया है और भगवान् के भजन की ओर प्रेरित करते हुए जीव को खूब लज्जित किया है। भाव-गाम्भीर्य में यह पद अनूठा है। इसमें दृष्टान्त और उपमा अलंकार है।

भैरवी

८-शब्दार्थ—कहाँ लौं—कहाँ तक ; लसति—शोभा देती है ; सुभग—सुन्दर ; राजत—शोभा देता है ; चिकुर—केश ; भाल—मस्तक ; रेनु—धूल।

भावार्थ—कोई गोपी कहती है कि मैं श्रीकृष्ण के बाल-रूप की सुन्दरता कहाँ तक वर्णन करूँ। सोने के आँगन में खेलते हुए कुँवर की शोभा को मैं ने अपनी आँखों से देखा है। उस समय श्रीकृष्ण के सुन्दर सिर पर कुलही शोभा दे रही थी जिसमें अनेक प्रकार के रंगीन कपड़े लगे हुए थे उसको देखकर ऐसा प्रतीत होता था मानों छोटे से कृष्ण-मेघ के ऊपर इन्द्र-धनुष शोभा पा रहा है। श्रीकृष्ण जी के मुख पर फैले हुए केश, जो अत्यन्त सुन्दर और कोमल हैं, मन को बरबस खींच लेते थे। उन्हें देखकर ऐसा लगता था मानों खिले हुए कमल-पुष्प पर भ्रमर-पंक्ति शोभा पा रही है। श्रीकृष्ण के अरुण-मस्तक पर नीली, श्वेत, पीली और लाल मणियों के गुच्छों की लटकनि इस प्रकार शोभा पा रही थी मानों शनि, शुक्र, बृहस्पति और मंगल का समूह शोभित हो रहा है। श्रीकृष्ण के दूध के दाँतों की जो शोभा है, उसकी उपमा नहीं कही जा सकती। किलकने और हँसने में उनके दाँत उसी प्रकार कभी छिप जाते हैं और कभी प्रकट हो जाते हैं जैसे बादलों के बीच बिजली। कन्हैया जी जो तोतली बोली बोलते हैं वह पूर्ण सुख देने वाली है। वे अपने शरीर को धूल धूसरित करके घुटनों के बल चलते हैं। मैं उनकी इस छवि पर बलिहार हूँ।

टिप्पणी—इस पद में भगवान् के बाल-रूप का वर्णन मनोहारी ढंग से किया गया है। इसमें उत्प्रेक्षा अलंकार है।

भामनकों उमनिये कारधोंमें विहार

इसका लक्षण भाषा-भूषण में इस प्रकार दिया गया है। 'उत्प्रेक्षा सम्भावना वस्तु हेतु फल लेखि।'

बधाई

६—शब्दार्थ—भ्रू—भौंह; गुनि—समझ कर; विधु-आनन—चन्द्र जैसा मुख; गोती—परिवार।

सन्दर्भ—कोई गोपी नन्द के घर गई थी, वहाँ से लौटने पर वह अपनी सखी से कहती है।

भावार्थ—हे सखी! मैं आज नन्द के घर गयी थी। मैं वहाँ के सुख का वर्णन कैसे करूँ। वहाँ पर अनेकों रंग की करोड़ों गायें ग्वाल-बालकों द्वारा दुही जा रही थीं। चारों ओर दही मथानी से मथा जा रहा था जिसको सुनकर बादलों की ध्वनि फीकी लगती था। मैं नन्द के घर की शोभा का वर्णन कैसे करूँ वह तो बैकुण्ठ से भी अधिक शोभा देता है। यशोदा ने मुझे नव-वधू जानकर उन जगह बुलाया, जहाँ पर कन्हैया खेल रहे थे। उनके मुख को देखते ही मुझे उनके प्रति मोह हुआ। उनकी उस समय की शोभा का वर्णन नहीं किया जा सकता। भौंहों के ऊपर मस्तक में पाँच रंग की मणियों का एक गुच्छा इस प्रकार सुशोभित हो रहा है मानों बृहस्पति, शनि, शुक्र एक होकर लाल मस्तक पर शोभा पाते हैं। मस्तक में गोरोचन के तिलक के निकट ही काजर का दिठौना लगा हुआ इस प्रकार लगता है मानों मस्तक को कमल समझकर और उसका पराग पीकर भ्रमर का बच्चा सो गया हो और रात्रि के समाप्त होने पर अब जागा हो। उनके नेत्र बड़े-बड़े हैं और उनके चन्द्रमा जैसे मुख के ऊपर नाक का मोती लटककर इस प्रकार शोभा पा रहा है मानों चन्द्रमा ने बुध को अपना पुत्र समझकर उसे अपनी गोद में ले लिया हो। श्रीकृष्ण जी के हृदय पर मोती की माला शोभा

पा रही है और उसके बीच में बघनखा इस प्रकार शोभा पा रहा है मानों द्वितीया का चन्द्रमा नक्षत्रों के साथ में उदित हुआ हो। मैं कन्हैया के लिये क्या उपमा दूँ, कुछ कहते नहीं बनता। उनके अङ्गों का वर्णन मैं क्योंकर करूँ क्योंकि उनके एक-एक अङ्ग की शोभा में भावों का सागर भरा हुआ है। यदि मैं बाल-कृष्ण की सुन्दरता का वर्णन करने के लिये प्रयत्न करूँ तो कवि-जन मेरी हँसी करेंगे क्योंकि उन्होंने श्रीकृष्ण की शोभा को अगाध सागर कहा है उनके लिये दूसरी उपमा है ही नहीं। श्रीकृष्ण का रूप देखकर मैं इस प्रकार हक्की-बक्की हो गयी जिस प्रकार भेद से भरा हुआ चोर अपने रहस्य को नहीं प्रकट करता और हक्का बक्का-सा रहता है। यदि मेरी आँखों में बोलने की शक्ति (जिह्वा) होती तो मैं अत्यन्त सुन्दर ढङ्ग से श्रीकृष्ण की शोभा का वर्णन करती। हे यशोदा के दुलारे! चिरंजीव रहो। मैं तुम्हारे रूप पर बलिहार हूँ।

टिप्पणी— —ज्योतिष के अनुसार शनि का काला, शुक्र का श्वेत, बृहस्पति का पीला और मङ्गल का लाल वर्ण माना गया है, कवि ने काली, श्वेत, पीली और लाल मणियों के गुच्छों की उत्प्रेक्षा इन ग्रहों से की है।

२—मानों सोम संग करि लीनों...। प्रसिद्ध है कि चन्द्रमा ने अपने गुरु बृहस्पति जी की पत्नी तारा के साथ सम्भोग किया जिस से बुध की उत्पत्ति हुई। बुध के कारण चन्द्रमा और बृहस्पति में संघर्ष हुआ था, पर अंत में बुध चन्द्रमा को दिये गये। बृहस्पति ने इसी कारण चन्द्रमा को क्षय-रोगी होने का शाप दिया था। आज भी चन्द्रमा एक मास में १५ दिन तक लगातार क्षीण होता रहता है।

३—'सुनत मेघ धुनि लाजे री' में तृतीय प्रतीप अलंकार है और शेष में उत्प्रेक्षा अलंकार है।

४—वर्णन की दृष्टि से यह पद बहुत रमणीक है।

धनाश्री

१०—शब्दार्थ—नँद-भामिनि—यशोदा जी।

भावार्थ—सूरदास जी कहते हैं कि यशोदा जी श्रीकृष्ण को पालने पर पौढ़ाकर झुलाती हैं। वे कन्हैया को हिलाती है, दुलारती हैं और उनका चित्त बहलाने के लिए कुछ गुनगुनाती है। वे कहती हैं कि ऐ निद्रे! तू मेरे लाल को शीघ्र आ जा। तू क्यों नहीं आकर इसे सुला देती, तुझे कान्ह कभी से बुला रहा है इसलिए तू शीघ्र दौड़कर क्यों नहीं आती? (यशोदा को संतोष देने के लिए) कभी श्रीकृष्ण जी अपनी पलकें मूँद लेते हैं और कभी अपने होठों को फड़काने लगते हैं। जब वे कभी सोने लगते हैं तो यशोदा एकदम चुप हो जाती हैं और संकेतों के द्वारा बात करने लगती हैं। इसी बीच में श्रीकृष्ण जी चौंककर जाग उठते हैं, यशोदा जी भगवान् को चुप कराने के लिए मधुर स्वर से गाने लगती हैं। इस प्रकार (बाल-क्रीड़ा का) जो सुख देवताओं और मुनियों को भी दुर्लभ है उसे यशोदा जी अनायास ही पा लेता हैं।

टिप्पणी—बालक श्रीकृष्ण के सोने का क्या ही मनोवैज्ञानिक चित्र इस पद में अंकित है!

ध्रुपद

११—शब्दार्थ—कंज दलन पर—कमल के पत्तों पर; किंकिनी—कमर का एक आभूषण विशेष; कलित—सुन्दर; कटि—कमर; हाटक—सोना; पहुँचियाँ—एक आभूषण विशेष जो कलाई में पहना जाता है; दामिनी—बिजली; अंजन-रंजित—आँजन लगे हुए।

भावार्थ—महात्मा सूरदास जी कहते हैं कि बालक श्रीकृष्ण के पैर बहुत छोटे हैं, इन छोटे पैरों की अँगुलियाँ भी बहुत छोटी हैं। इन पर सुन्दर नख की ज्योति ऐसी प्रतीत होती है मानों कमल के पत्तों पर पड़ा हुआ मोती शोभा पा रहा हो। कन्हैया जी सुन्दर आँगन में बड़े प्रेम से खेलते हैं और ठुमुक-ठुमुक कर डोलते हैं, उनकी पैंजनी सुन्दर और कोमल शब्दों में मधुर झनकार करती है। उनकी कमर में रत्न-जटित स्वर्ण की किंकिनी और कमल के समान कोमल हाथों में सुन्दर पहुँची शोभा पाती है। उन्होंने झीनी-झीनी जो पीली पिछौरी ओढ़ रक्खी है उसको देखकर यह सरस उपमा आता है मानों बाल-रूप श्याम मेघ ने बिजली की पिछौरी ओढ़ रक्खी है। उनके कंठ में कठुला है जिसमें लगा हुआ बघनखा वक्षस्थल पर शोभा पा रहा है। उनके बाल घुंघराले हैं, चोटी लटक रही है और उनके मस्तक का दिठौना मुनियों के मन को हरने वाला है। उनके नेत्रों में अंजन लगा हुआ है और उनकी बाँकी चितवनि चित्त को चुरा लेती है। उनके मुख की शोभा पर मैं अगणित कामदेवों को निछावर करता हूँ। यशोदा जी चुटकी बजाती हैं, कन्हैया को नचाती हैं, बाल-क्रीड़ा के गीत गाती हैं और अत्यन्त प्रेम से पुचकारती हैं। श्रीकृष्ण जी किलकारी मार-मारकर हँसते हैं उनके दाँतों में दो-दो दँतुली शोभा पाती है। उनकी तोतली वाणी हमारे मन में बसती है।

टिप्पणी—इसमें भगवान् की बाल-क्रीड़ा का वर्णन कुछ उत्प्रेक्षाओं के सहारे वर्णित है।

आसावरी

१२—**शब्दार्थ**—जायो—पैदा किया ; स्याम—काला। रीझै—प्रसन्न होती है।

प्रसङ्ग—बालक कृष्ण बलराम आदि के साथ खेलने गये थे। वहाँ बलराम का संकेत पाकर ग्वाल-बालों ने कन्हैया की खूब चुटकी ली। बेचारे अन्त में खीझकर घर लौट आये और अपनी माता यशोदा से दाऊ की शिकायत इस प्रकार करने लगे--

भावार्थ—मैया! आज दाऊ (बलराम) ने मुझे बहुत खिझाया है। वे मुझसे कहते हैं कि तुझे यशोदा ने कब पैदा किया, तू खरीद कर लाया गया है। मैं इसी क्रोध के कारण खेलने नहीं जाता हूँ। वे मुझसे बार-बार यही कहते हैं कि तुम्हारी माता और तुम्हारे पिता कौन हैं? यदि हम यशोदा को तुम्हारी माता और नन्द को तुम्हारा पिता मानें तो यह सम्भव नहीं क्योंकि तुम काले-कलूटे हो और वे दोनों गोरे रंग के हैं। बलदाऊ जी सभी को खूब सिखा देते हैं जिस से वे चुटकी बजा-बजाकर मुझ पर हँसते हैं। तू भी सदा मुझ को ही मारती रहती है और दाऊ के ऊपर कभी खीझती तक नहीं। इस समय कन्हैया जी का तमतमाया हुआ चेहरा देखकर और उसकी बातें सुनकर यशोदा जी प्रसन्न होती हैं। वे कहती हैं कि हे कान्ह! सुनो—बलभद्र चबाव करने वाला और जन्म का ही धूर्त है। मैं गो की शपथ खाकर कहती हूँ कि मैं तेरी माता हूँ और तू मेरा पुत्र है।

टिप्पणी—श्रीकृष्ण जी की बाल-सुलभ शिकायत इस पद में अनोखे ढंग से वर्णित है। बलदाऊ जी का व्यंग तो बहुत ही अनूठा है।

अलहैया

१३-शब्दार्थ—गहि—पकड़ कर; चकृत—अचम्भित; साँटि—छड़ी।

प्रसङ्ग—व्रज के ग्वाल-बालों ने श्रीकृष्ण को मिट्टी खाते कहीं देख लिया और उन्होंने तुरन्त ही जाकर इसकी सूचना यशोदा जी को दे दिया।

भावार्थ—हे यशोदा जी ! हमारे देखते-देखते तेरे बच्चे कन्हैया ने अभी ही मिट्टी खायी है। यह सुनकर यशोदा जी क्रोध से उठकर दौड़ीं और कन्हैया की बाँह को पकड़कर ले आयीं। वे एक हाथ से खूब कसकर कृष्ण का हाथ पकड़े हुए थीं और दूसरे हाथ में डण्डा लिये हुए थीं। वे कहने लगीं कि ह कन्हैया ! तुरन्त मिट्टी को उगल दो, नहीं तो मैं अभी तुझे मारती हूँ। इस पर श्रीकृष्ण जी उत्तर देते हैं—माँ, मैं ने तो मिट्टी नहीं खायी। ये व्रज के लड़के झूठ-मूठ बात बनाकर तुझ से कहते हैं। यदि मेरे कहने पर तुझे विश्वास नहीं होता है तो मैं अपना मुँह खोलकर तुझे दिखाये देता हूँ। ऐसा कहकर उन्होंने अखिल ब्रह्मांड की महिमा मुँह खोलकर दिखायी। श्रीकृष्ण के मुख में समुद्र, सुमेरु, पर्वत, नदी, वन आदि को देखकर यशोदा जी मन ही मन आश्चर्य करने और काँपने लगीं। आकुलतावश उन्होंने भुजा को छोड़ दिया, डंडा भी दूसरे हाथ से पता नहीं कब गिर गया। वे कहने लगीं कि शार्ङ्ग-पाणि श्रीकृष्ण जी आप अपना मुख बन्द कर लें। मैं आप पर बलिहार हूँ।

टिप्पणी—इस पद में यशोदा जी को भगवान् ने विराट-स्वरूप दिखाकर उनका संशय नष्ट किया है। रामचरित-मानस में कौशल्या जी को भी इसी प्रकार विराट-दर्शन हुआ था।

धनाश्री

१४—शब्दार्थ—निसि बासर—रातदिन; जैहो—जाओगे; हाथहिं आये—कब्जे में आते हो।

प्रसङ्ग—माखन चुराते हुए श्रीकृष्ण जी एक गोपी द्वारा पकड़े गए हैं, इसी का वर्णन सूरदास जी कर रहे हैं।

भावार्थ—श्रीकृष्ण जी चोरी करते हुए पकड़े गये हैं। गोपी कहती है कि हरि (श्रीकृष्ण) ने मुझे रात-दिन परेशान किया है और अब बड़ी कठिनाई से हाथ लगे हैं। हे कन्हैया! तुमने मेरा सारा दही और माखन खा लिया है तथा बहुत शरारत की है। मैं तुम्हें अच्छी तरह पहचानती हूँ, अब तो तुम अच्छे फंदे में फँस गये हो। ग्वालिनी ने श्रीकृष्ण के दोनों हाथों को पकड़ रक्खा है और वह कहती है कि अब कहाँ जाओगे। मैं तुम्हारे लिए माखन मँगाती हूँ। इसे तनिक और खाओ। ग्वालिनी की व्यंगपूर्ण भयदायिनी बातें सुनकर श्रीकृष्ण ने कहा मुझे तुम्हारी शपथ है, मैं ने तनिक भी मक्खन नहीं चखा है। तुम्हारा सारा मक्खन तो सखा लोग खा गये। ऐसा कहकर उन्होंने ग्वालिनी की ओर देखकर हँस दिया जिससे उसका क्रोध दूर हो गया। ग्वालिनी ने अब श्रीकृष्ण को बड़े प्यार से गले लगा लिया और उन पर बलिहार हुई।

टिप्पणी—इसमें श्रीकृष्ण की माखन-चोरी वर्णित है।

गौरी

१५—शब्दार्थ कुटिल—टेढ़ी ; मुक्ता मोती ; श्रुति-छन्दन—वेद की ऋचाओं में।

प्रसङ्ग—संध्या के समय श्रीकृष्ण जी अपने साथियों सहित गौओं को चराकर लौट रहे हैं। उनकी इस समय की शोभा का वर्णन कोई गोप-बालिका अपनी सखी से कर रही है।

भावार्थ—हे सखी ! देख। श्रीकृष्ण जी वन से सजे हुए गोकुल की ओर आ रहे हैं। इन के शिर पर मोर पंख है, मुख में मुरली है तथा वक्षस्थल पर चन्दन का तिलक लगा हुआ है। टेढ़ी अलकें मुख पर गिरी हुई हैं, नेत्र बहुत चंचल हैं जिन्हें देखकर अत्यन्त आनन्द होता है और ऐसा लगता है मानों दो खंजन पक्षी कमल के मध्य में आकर फँस गये हों और वहाँ से निकलने का प्रयत्न कर रहे हों। जब श्रीकृष्ण जी धीरे-धीरे गायन करने लगते हैं तो उनके लाल ओष्ठ का प्रतिबिम्ब दाँतों पर पड़कर ऐसा प्रतीत होता है मानों मोतियों की सुन्दर बन्दनवार के मध्य में लाल मणि सम्पुटित की गयी है। हे सखी ! राक्षसों के संहारक वे प्रभु गोकुल में गोपवेष धारण करके गो चारण करते हुए फिर रहे हैं जिनका सुयश वेद की ऋचाओं में 'नेति-नेति' अर्थात् 'इति नहीं है, इति नहीं है' कहा गया है।

टिप्पणी—'कमल मध्य मानों द्वै खंजन में' उत्प्रेक्षा अलंकार है।

भैरवी

१६—शब्दार्थ—सिगरे—सब ; पिराइ—पीड़ा होती है।

भावार्थ—श्रीकृष्ण जी यशोदा से कहते हैं कि हे मैया ! मैं अब गायों को न चराने जाऊँगा। सभी गोप मुझ से गायों को हँकवाते हैं। दौड़ते-दौड़ते मेरा पैर पीड़ा कर रहा है। यदि तुझे विश्वास न हो तो बलदाऊ से अपनी शपथ दिलाकर पूछ ले। यशोदा जी जब यह सुनती हैं तो क्रोधित होकर ग्वालों को गालियाँ सुनाती हैं। वे कहती हैं कि मैं अपने बालक को गो-चारण के लिये इसलिये भेजती हूँ कि वह वहाँ जाकर अपना

मन बहला आने पर इस नन्हें से बच्चे को सब लोग दौड़ा-दौड़ाकर परेशान कर लेते हैं।

सारङ्ग

१७–**शब्दार्थ**—अधर—ओंठ ; पापान—(शुद्ध रूप—पाषाण) पत्थर ; द्रुम—वृक्ष ; समीर—वायु ; अभिराम—सुन्दर ; लावण्य—सुन्दरता।

भावार्थ—महात्मा सूरदास जी कहते हैं कि जिस समय श्याम ने मुरली को अपने ओंठों पर धारण किया उस समय उसकी मधुर ध्वनि सुनकर मुनियों और सिद्धों की समाधि टूट गयी। देवताओं के विमान भी मुरली के नाद को सुनकर स्तम्भित हो गये। देवांगनाएँ चित्र की भांति स्तब्ध हो गयीं। ग्रह और नक्षत्र अपने राशि-स्थान को नहीं छोड़ सके। वे सभी ध्वनि की पाश में बँध गये। जल और स्थल के सभी जीव मुरली की ध्वनि सुनकर आनन्द की उमंग से भर गये। पर्वत चलायमान हो गये। वंशी के नाद को सुनकर चर और अचर सभी प्रकार के प्राणियों की गति विपरीत हो गयी। पत्थर द्रवित होकर झरना की भांति झरने लगे, गन्धर्व मोह उठे। पक्षी और मृगों ने मौन ग्रहण कर लिया और अपना भोजन, फल तथा पत्ता और तृण चरना छोड़ दिया। गायें भी मुरली का नाद सुनकर चकित हो गयीं और अपने दाँतों से तृण चरना छोड़ दिया। बछड़े ने दूध पीना छोड़ दिया तथा पक्षी ने अपना धैर्य खो दिया। वृक्ष और लतायें गतिमान दिखाई देने लगीं। जिन वृक्षों के पत्ते चंचल हो रहे थे वे उसके निकट जाने के लिए आकुल होने लगे। जो व्यक्ति बहुत आकुल थे और जिनका शरीर पुलकित था उनके नेत्रों से अनुराग चूने लगा। वंशी की

ध्वनि सुनकर चंचल वायु रुक गयी, नदी के जल का प्रवाह रुक गया। व्रज की गोपियाँ अपने पुत्र, देह और घरों की सुधि भुलाकर उसी ओर चल पड़ीं जिधर से मुरली की ध्वनि सुनाई दे रही थी। वंशी की ध्वनि सुनकर वायु स्तम्भित हो गयी। जमुना का जल उल्टा होकर बहने लगा। मदनगोपाल श्रीकृष्ण सब के मन को मोहने वाले हैं, उनका शरीर श्याम वर्ण का है और नेत्र विशाल हैं, कृष्ण-मेघ के सदृश्य श्यामल शरीर पर वे सुन्दर पीताम्बर ओढ़े हुए हैं। जब श्याम ने मनमोहन रूप धारण किया तो कामदेव का गर्व चूर्ण हो गया। प्यारे मदनगोपाल के साथ में सुन्दरी व्रजबालाओं को जमुना के किनारे स्थित नव-कुञ्ज में देखकर भक्तों का चित्त प्रसन्न हो जाता है।

टिप्पणी—इसमें मुरली के नाद का प्रभाव वर्णित है। वर्णन अधिक विस्तार में होने के कारण इसमें पुनरुक्ति दोष आ गया है। यथा—'सुनि चंचल पवन थके' और 'सुनि थकित भयो समीर' में। इसी प्रकार एक ही वस्तुस्थिति का चित्रण दो विरोधी ढंग से किया गया है। जैसे—एक जगह "सरिता जल चलि न सकै" और दूसरी जगह—"बहै उलटो जमुना नीर" है। इस प्रकार इनमें परस्पर विरोध है। कला की दृष्टि से भी यह अन्य पदों की तरह उत्तम नहीं बन पड़ा।

बिलावल

१८-शब्दार्थ—भुवि—पृथ्वी ; अजीति—अजेय, जो युद्ध में पराजित न हो सके।

भावार्थ—कोई गोपी अपनी सखी से कहती है कि हे सखी ! अब मुरली को अत्यन्त गर्व हो गया है और वह किसी को कुछ भी नहीं समझती। श्रीकृष्ण के कमलवत् मुखों को

देखकर वह इतनी आनन्दित होती है मानों उसे सुख का राज मिल गया है। यह ढीठ श्रीकृष्ण के हाथों को अपने आसन के रूप में और अधरों को राजछत्र के रूप में देखती है। कन्हैया की अलकावली सभा के मध्य में (सुशोभित मुरली को चवँर करती हुई दिखाई पड़ती है। यह हठात् यमुना के जल को समुद्र में नहीं जाने देती तात्पर्य यह कि मुरली की मनोहर ध्वनि सुनकर यमुना का जल स्थिर हो जाता है) और देवलोक से देवताओं के विमान को पृथ्वी पर बुला लेती है। (मुरली की ध्वनि सुनने के लिये देवताओं का विमान भूमि पर आ जाता है।) जड़ और चैतन्य जितने इस संसार में अजेय हैं, उन्हें यह जीत लेती है और विधाता की मर्यादा को मिटाकर यह अपने ही रीति के अनुसार चलती है। सूरदास जी कहते हैं कि देवता, मनुष्य, मुनि और नाग सभी वंशी के वश में हैं। यहाँ तक कि इससे विशेष अनुराग होने के कारण श्रीपति जी ने लक्ष्मी जी को भी भुला दिया है।

टिप्पणी—इस पद में गोपियों ने मुरली को एक स्वच्छन्द सम्राज्ञी के रूप में देखा है। भगवान के कर-कमलों के आसन पर और अधरों की छत्रछाया के नीचे बैठी हुई यह सचमुच गोपियों को गर्वीली लगती है। मुरली के नाद के प्रभाव से जमुना का जल रुक जाता था और देव-विमान भूमि पर आ जाते थे। इस भाव को लेकर गोपियों ने उसे निरंकुश बनाया है। इस पद में रूपक अलंकार है।

मलार

१९—**शब्दार्थ**—भावति—प्यारी लगती है ; गुरु—भारी।

भावार्थ—कोई गोपी अपनी सखी से कहती है कि हे सखी ! मुरली तो भी कन्हैया जी को बहुत प्यारी लगती है

यद्यपि यह उनको अनेक प्रकार के नाच नचाती है। यह मुरली उनको एक पैर से खड़ा कराकर अपना बहुत बड़ा आधिपत्य दर्शाती है। श्रीकृष्ण जी स्वयं कोमल शरीर वाले हैं, अतएव उनकी कमर मुरली की कठोर आज्ञा के भार से दबकर टेढ़ी हो जाती है। गिरिधर होकर भी श्रीकृष्ण जी मुरली के सामने अपनी गर्दन झुकाते हैं। यद्यपि सुजान कृष्ण जी पराधीन हैं पर फिर भी (न जाने क्यों) ये मुरली के प्रति कृतज्ञ हैं। यह मुरली स्वयं तो अधर शय्या पर लेटती है और उस पर भी प्यारे) श्रीकृष्ण से अपना पैर दबवाती है। यह हम (गोपियों) पर क्रोधित होकर भौंह की टेढ़ाई और नासिका-छिद्रों की फड़कन द्वारा श्रीकृष्ण को भी क्रोधित कराती है। श्रीकृष्ण जी जब इस मुरली को क्षण भर भी प्रसन्न देखते हैं तो अपने शिर और होठों को हिलाने लगते हैं।

टिप्पणी—प्रस्तुत पद में प्रकारान्तर से श्रीकृष्ण के मुरली बजाने के समय का पूरा चित्र खींचा गया है। गोपियों ने सपत्नी भाव रखने के कारण ईर्ष्या-वश उसे एक स्वतन्त्र गर्वीली और पति से भी सेवा लेने वाली नारी के रूप में दिखलाया है तथा श्रीकृष्ण को एकदम निम्न कोटि के कामी पुरुषों की श्रेणी में ला बिठाया है। कवि ने वक्रोक्ति द्वारा इस पद को अत्यन्त रसमय बना दिया है।

जैतिश्री

२०—शब्दार्थ—सरल है।

भावार्थ—कोई गोपी श्रीकृष्ण से कहती है कि हे प्रभो! अपने (ब्रह्म) स्वरूप को भुलाकर आप ब्रज में अवतीर्ण हुए हैं। लोग प्रकृति और पुरुष में भेद बताते हैं पर हमें ऐसा प्रतीत होता है कि प्रकृति और पुरुष वस्तुतः एक ही हैं, इनमें केवल नाम का

भेद है। वेद और उपनिषद आप के विषय में कहते हैं कि जल और स्थल में सर्वत्र आप व्याप्त हैं। (देखने में) हम और आप दो हैं पर जीव तो एक ही है। ईश्वर ने हमें सुख करने के लिए ही उत्पन्न किया है। ऐसा सुनकर श्रीकृष्ण जी उसको ओर देखकर मुस्कराये और उसे आनन्द दिया।

टिप्पणी ·इस पद में प्रकारान्तर से शुद्धाद्वैतवाद का निरूपण किया गया है।

देश

२१ **शब्दार्थ**—मराल—हंस, प्रवाल—छोटी अवस्था के; सुरभि—गाय।

भावार्थ—सूरदास जी कहते हैं कि ऐ मन ! तू श्रीकृष्ण का ध्यान कर। तू उनके शीतल चरणों-कमलों की सेवा कर और भोग विलास को छोड़ दे। देख, त्रिभङ्गी श्रीकृष्ण जी के जाँघें सुन्दर सुवर्ण-दंड की भांति सुन्दर हैं। उनकी कमर में पीतवर्ण की काछनी कसी हुई है और शरीर में कमल की भाँति सुगन्धि देने वाली केशर लगी हुई है। उनके कटि की किंकिणी हंस के छोटे बच्चे की भांति मधुर शब्द करती है। उनकी नाभि से वक्षस्थल की ओर जो रोम पंक्ति गयी है, वह सुन्दर भ्रमर सेना की भांति शोभा दे रही है। उनके कंठ में चन्दन लगा हुआ है और उस पर मोतियों की माला शोभा पा रही है इसके पास में वक्षस्थल पर जो वनमाला पड़ी है वह इस प्रकार प्रतीत हो रही है मानों गंगा जी के किनारे तमाल वृक्ष पर श्यामल लताएँ शोभा पा रही हैं। श्रीकृष्ण जी की भुजा कमलनाल की तरह है। वे पल्लव के समान अपनी हथेली पर वंशी रखकर उसे मुख से लगाये हुए हैं। उनके चन्द्रमा जैसे मुख पर गौओं के खुरों द्वारा उठी हुई धूल शोभा पा रही है। उनके ओष्ठ लाल हैं और

कपोल नेत्र एवं नासिका आदि बहुत सुन्दर हैं। उनके गण्ड-स्थल पर हिलते हुए कुण्डल ऐसे प्रतीत होते हैं मानों स्वयं कामदेव नृत्य कर रहे हों। उनकी अलकावली और भौंहें टेढ़ी हैं। उनके मस्तक पर लगी हुई श्रीखण्ड की तिलक रेखा और शिर पर लगा हुआ मोर पंख इस प्रकार शोभा दे रहा है मानों कामदेव ने इन्द्र-धनुष को देखकर अपना बाण धनुष पर चढ़ा लिया है। सभी प्राणपति श्रीकृष्ण की इस शोभा को अपनी आँखों से एकटक देखते हैं और क्षण भर के लिए भी पलक नहीं बन्द करते हैं।

टिप्पणी—प्रस्तुत पद में श्रीकृष्ण की शोभा का वर्णन किया गया है। इसमें उत्प्रेक्षा अलंकार है।

बिहाग

२२ **शब्दार्थ**—सरल है।

भावार्थ—कोई गोपी अपनी सखी से कहती है कि हे सखी! मेरे नेत्र अब भ्रमर हो रहे हैं। ये लोक-लज्जा रूपी वन की अनेक लताओं को छोड़कर श्यामसुन्दर रूपी कमल के ऊपर आतुर होकर पहुँच रहे हैं और उसके सौन्दर्य रस का पान करने के लिए लालायित हो रहे हैं। ये भ्रमर श्रीकृष्ण की चितवन रूपी पराग में लिपट गये हैं और उनके नेत्रों के बन्द होने पर उन्हीं में सम्पुटित हो गये हैं। श्रीकृष्ण की मुस्कान रूपी प्रभात कालीन प्रकाश को देखकर जब उनके नेत्र कमल खुलते हैं तो ये भ्रमर उनमें से निकलते हैं और फिर बैठते हैं। इसके पश्चात् ये भ्रमर घूम-घूम कर श्रीकृष्ण के कमलवत् करों और चरणों में बैठते रहते हैं।

टिप्पणी—प्रस्तुत पद में रूपक अलंकार है। इसमें प्रकारांतर से श्री कृष्ण की छवि का वर्णन किया गया है।

बिहाग

२३—शब्दार्थ—सरल है।

भावार्थ—कोई गोपी अपनी सखी से कहती है कि हे सखी! मेरे नेत्र जहाज पर बैठे पक्षी की भाँति हो गये हैं। ये उड़-उड़कर श्रीकृष्ण के रूप-सिन्धु का पता लगाते हैं पर उसका कहीं ओर-छोर न देखकर ये पुनः लौट आते हैं। हे सखी! अब इनकी ऐसी दशा हो गयी है कि इन्हें पछताना पड़ रहा है। मेरे मना करते-करते ये श्रीकृष्ण के रूप-सिन्धु के ओर-छोर का पता लगाने के लिये दौड़ पड़े पर उनकी विशालता का अनुमान इन्हें न हो सका। इन्हें अनुमान भी हो तो कैसे? श्रीकृष्ण जी समुद्र हैं और ये छोटे से बर्तन हैं फिर अपार सुखराशि को ये कहाँ रक्खें। सूरदास जी कहते हैं कि ये नेत्र अपने को अत्यन्त चतुर लगाते हैं किन्तु वह छवि तो सब को प्रकाश देने वाली है। उसके आगे इनको क्यों चलने लगे?

टिप्पणी—इस पद में रूपक अलंकार है।

झँझोटी

२४—शब्दार्थ—दंपति—युगल मूर्ति (राधा-कृष्ण)।

भावार्थ—महात्मा सूरदास जी कहते हैं कि महारास के आनन्द का रहस्य नहीं कहा जा सकता। मैं इस रहस्य को वर्णन करने के अनुरूप बुद्धि और मन कहाँ पाऊँ और अपने चित्त के भ्रम को किस प्रकार भुला दूँ। जो वेदों के लिए अगम्य है यदि उसका वर्णन मैं करूँ भी, तो उस पर प्रतीति ही कौन करेगा? बिना भगवान् की कृपा के इस भक्ति-रस की प्राप्ति नहीं हो सकती।

इसलिए भगवान् का भजन भक्ति व श्रद्धा से करना चाहिए। क्योंकि जहाँ श्रद्धा और भक्ति नहीं है भगवान वहाँ नहीं हैं। वे भाव में भाव को बसाते हैं अर्थात प्रेमी को प्रेम-विभोर कर देते हैं। मेरा अपना यही मंत्र है, यही ज्ञान है और यही ध्यान है कि मुझे युगल-मूर्ति का दर्शन होता रहे और मैं उनके भजन गाता रहूँ। मैं प्रभु से बार-बार यही माँगता हूँ कि ईश्वर मेरे दोनों नेत्रों को बना दे और जब भी जन्म लूँ तो सदैव मुझे मानव देह मिले।

टिप्पणी—इस पद में शान्त रस है। यह पद वल्लभ सम्प्रदाय के सिद्धांत की भी सूचना देता है।

सारङ्ग

२५--शब्दार्थ—आहि—है ; चतुरानन—ब्रह्मा जी ; सिखा—चोटी ।

भावार्थ—कोई गोपी अपनी सखी से कहती है कि ऐ सखी ! यह मुरली ब्रह्मा जी से भी अधिक प्रवीण है। बताओ तो सही, संसार में ऐसा कौन है जिस ने सारे जगत को अपने वश में कर रक्खा हो। ब्रह्मा जी ने अपने चतुर्मुख से उपदेश करके चराचर की एक मर्यादा स्थिर कर दिया किन्तु जब इस गर्वीली मुरली ने अपने आठ मुखों से गरजना आरम्भ कर दिया तो उनकी मर्यादा क्योंकर चलने पावे ? वह तो तुरन्त ही टूट गयी। एक कमल को अपना निवास बनाकर ब्रह्मा जी ने विश्व के सारे ऐश्वर्य को ले लिया किन्तु यह हरि के युग कर-कमलों पर बैठी हुई है इसलिये इसे बहुत गर्व हो गया है। (भाव यह है कि यह मुरली ब्रह्मा के ऐश्वर्य को अपने आगे तुच्छ समझती है।) विष्णु भगवान् के एकबार के उपदेश से ब्रह्मा जी ने सब कुछ

सीख लिया किन्तु यहाँ प्यारा कन्हैया तो इसका नित्य कान भरा करता है। (ऐसी दशा में पता नहीं यह क्या करेगी) ब्रह्मा जी ने एक हंस की सवारी करके अत्यन्त प्रशंसा प्राप्त कर ली है किन्तु यह तो बहुत सी गोपियों के मन रूपी हंस को अपना विमान बना चुकी है। भगवान् के हृदय में रहने वाली लक्ष्मी जिन (श्रीकृष्ण) का चरण रज चाहती हैं उनके मुख को इसने अपना उपयुक्त सुखमय सिंहासन बना रक्खा है। इस मुरली के न तो चोटी है और न यज्ञोपवीत है। इसने श्रीकृष्ण के अधरामृत का पान कर उनके कुल के व्रत को भ्रष्ट कर दिया है फिर भी न जाने क्यों वे इससे बहुत प्रेम रखते हैं।

टिप्पणी—इस पद में प्रतीप अलंकार के सहारे बड़े अनूठे ढंग से मुरली का प्रभाव वर्णन किया है। अंतिम दो पंक्तियों में व्याज-स्तुति अलंकार है।

विहाग

२६ शब्दार्थ—भाखै—कहती है; प्रान हनन को—प्राण लेने के लिये; कमल-नयन—श्रीकृष्ण

भावार्थ—यशोदा जी श्रीकृष्ण को मथुरा जाते हुए देख कर बार-बार यह कहती हैं कि क्या इस व्रज में मेरा कोई ऐसा हितू है जो मथुरा जाते हुए गोपाल को लौटा ले। राजा कंस ने मेरे छगन-मगन को क्यों मथुरा बुलाया है? जान पड़ता है अक्रूर मेरे प्राणों को लेने के लिए काल-स्वरूप होकर यहाँ आये हैं। कंस भले ही मेरी सभी गौओं को हँकवा ले और मुझे बंदीगृह में डाल दे किन्तु मुझे इस सुख से वंचित न करे। मेरा तो इतना ही सुख है कि कमलनेत्र भगवान् श्रीकृष्ण मेरी आँखों के आगे खेलें और मैं अपना दिन उनके मुख को देखते हुए काटूँ तथा रात

को उन्हें गोद में लेकर सो जाऊँ। मान लीजिए यदि मैं कन्हैया के वियोग होने पर भी भाग्यवश जीती रहूँ तो हँसकर किसको बुलाऊँगी ? श्रीकृष्ण के गुणों का वर्णन करते-करते यशोदा जी का अधर और मुख कुम्हला उठा। सूरदास जी कहते हैं कि इस अवसर पर नंदरानी यशोदा कितनी दुखित थीं, इसका वर्णन मैं कहाँ तक करूँ ?

टिप्पणी—इस पद में यशोदा जी का वात्सल्य-प्रेम वर्णित है। श्रीकृष्ण जी के वियोग के कारण यह उत्कृष्टता को प्राप्त हुआ है।

बिहाग

२७—**शब्दार्थ**—मनसहु—मन में भी।

भावार्थ—यशोदा जी श्रीकृष्ण जी के वियोग में कहती हैं कि मेरे कुँवर श्रीकृष्ण के बिना सब (मेवा-मिष्ठान्न आदि) ज्यों का त्यों पड़ा रहता है। हाय ! प्रातःकाल उठकर अब कौन मक्खन माँगेगा और कौन आकर मेरो मथानो पकड़ेगा ? यशोदा जी अपने सूने भवन में पुत्र कृष्ण के गुणों का स्मरण कर वियोग का कष्ट सहती हैं। जब तक कन्हैया मेरे घर में था तब तक नित्य सवेर ही ग्वालिनियों की भीड़ मेरे पास उलाहना देने आती थी, पर अब कोई नहीं आकर उसका उलाहना सुनाती। कन्हैया के व्रज में रहते हुए जो अपूर्व आनन्द था, वह बड़े-बड़े मुनियों के मन में भी नहीं आता किन्तु अब बिना स्वामी कन्हैया के गोकुल का मूल्य कौड़ी भर भी नहीं है।

टिप्पणी—इसमें भी वात्सल्य-प्रेम का वर्णन हुआ है। देखिए, जो वस्तुएँ वा दृश्य श्रीकृष्ण जी की उपस्थिति में यशोदा जी को सुख प्रदान किया करते थे वही उन्हें किस प्रकार दुःख दे रहे हैं !

सोहनी

२८—शब्दार्थ—लह्यौ—पाया ; दह्यौ—जला दिया।

प्रसंग—श्रीकृष्ण के प्रवासी होने पर उनके वियोग में गोपियाँ कहती हैं।

भावार्थ—प्रेम करके किसी ने सुख नहीं पाया। जैसे पतिंगे ने दीपक की लौ से प्रेम किया किन्तु उसको (प्रेम की पूर्ति के लिए) अपना प्राण जलाना पड़ा। भ्रमर के बच्चे ने कमल से प्रेम किया किन्तु अंत में (जब हाथी ने कमल-तंतुओं को उजाड़ दिया और कुचल डाला तो) भ्रमर को अपना सर्वस्व नष्ट करना पड़ा। हिरन ने वीणा के नाद से प्रेम किया किन्तु इसी प्रेम के कारण उसको व्याध का बाण सहना पड़ा। हमने भी श्री कृष्ण से प्रेम किया किन्तु उन्होंने चलते समय (सान्त्वना की) कोई बात नहीं कही। सूरदास जी कहते हैं कि प्रभु के बिना गोपियों का दुःख दूना हो गया है और उनके नेत्रों से आँसू बह रहा है।

टिप्पणी—इसमें अर्थांतरन्यास अलंकार है क्योंकि जहाँ विशेष का उदाहरण देकर उससे किसी समान्य सिद्धान्त की पुष्टि की जाती है वह अर्थांतरन्यास अलंकार होता है।

सोहनी

२९—शब्दार्थ—बासर—दिन ; चातक—पपीहा।

प्रसंग—कोई विरहिणी गोपी पपीहे की "पी-पी" की पुकार सुनकर उसे आशीर्वाद देती है और उसके सम दुःख भोगी होने की चर्चा अपनी सखी से करती है।

भावार्थ प्यारे पपीहे ! तुम बहुत दिन तक जीते रहो। रात-दिन तुम प्रियतम का नाम पुकारा करते हो और उनकी विरहाग्नि से झुलसकर काले हो गये हो। तुम स्वयं दुखी हो और दूसरे के दुख को भी समझते हो इसलिए लोग तुम्हें 'चातक' कहते हैं। हे सखी ! जरा विचार करके देखो तो सही, वियोग का दुख कितना विचित्र होता है। प्रेम का नुकीला बाण जिसको लगता है वही उसकी पीर जानता है। सूरदास जी कहते है कि इतना होने पर भी पपीहा अपने प्रिय स्वाति जल के लिये सब कुछ त्याग करता है और समुद्र को खारी जल वाला समझकर उसे त्याग देता है।

टिप्पणी—इसमें प्रेम की अनन्यता पालन करने तथा सम-दुःखभोगी होने के कारण पपीहे को गोपियों द्वारा आशीर्वाद दिलाया गया है। यह बहुत स्वाभाविक और मर्मस्पर्शी पद है।

सारङ्ग

३०—शब्दार्थ—बदन—मुख ; दुराइ—छिपाकर ; निसा-पति—चन्द्रमा।

सदर्भ—किसी वियोग-विधुरा गोपी को प्रलाप करते देखकर उसकी सखी समझाती है।

भावार्थ—ऐ सखी ! तू प्राणप्यारे का नाम क्यों रट रही है ? समझ ले ! प्रियतम का यह प्रेम तेरे प्राणों को ले लेगा तू अपनी आँखों में इस प्रकार आँसू क्यों भर रही है ? आँसू भरने से तेरे हृदय का शूल कैसे दूर होगा ? तू उच्छ्वास क्यों ले रही है ? इससे तो तेरे हृदय रूपी वन में लगी वैरी विरह की दावाग्नि और भड़क उठेगी। सुगन्धित लेप और पुष्पों की सेज भी इस समय तेरे लिये दाहक है। गले में तू पुष्पों का हार मत

पहन, नहीं तो इससे वक्षस्थल की हड्डियाँ तक जल जायँगी। तू यहाँ घर में अपना मुख छिपाकर बैठ; नहीं तो फिर चन्द्रमा उदय होकर तुझे कष्ट देने लगेगा। तू अपनी आँखों से चन्द्रमा की ओर न देख, नहीं तो वह जल जायगा।

टिप्पणी—इसमें वियोग शृंगार वर्णित है। इसमें नायिका की प्रलाप दशा है। अंतिम पंक्ति में अतिशयोक्ति की भी अति हो गयी है।

बिलावल

३१–शब्दार्थ—गोसुत—बछड़े; आस—आशा।

प्रकरण—प्रवासी श्रीकृष्ण की सुधि करके व्रजवासी कहते हैं।

भावार्थ—हे नाथ! हम अनाथों की सुधि लीजिए, यहाँ गोपियाँ, ग्वाले, गायें और बछड़े सभी अत्यन्त दीन और मलीन हो रहे हैं, इन सब का शरीर दिन-प्रतिदिन क्षीण हो रहा है और इन सबके नेत्रों से निकली हुई आँसू की धारा इतनी बढ़ रही है कि सारा व्रज-मण्डल डूबने लगा है। आप इस डूबते हुए व्रज को क्यों नहीं हाथ में धारण कर रक्षा करते? हे नाथ! आप से हमारी इतनी विनती है कि एक बार हमें चिट्ठी द्वारा अपना संदेश तो भेज दें। हे करुणासिन्धु! अपने चरण-कमल के दर्शन रूपी नाव पर हम लोगों को चढ़ाकर संसार में यश लीजिए। हे प्रभो! आपके दर्शन की हम लोग आशा करके बैठे हुए हैं। इसलिए कृपया एक बार व्रज में पधारिए।

मलार

३२–शब्दार्थ—घन—बादल; सदन—घर; सलिल—जल।

प्रकरण—भगवान् श्रीकृष्ण के मथुरा-प्रवास के कारण गोपियाँ बहुत दुखित थीं। वे नित्य ही श्यामसुन्दर का स्मरण करके रोतीं और आँसू गिराती थीं। इस दशा को ध्यान में रखकर कोई गोपी अपनी सखी से कहती है।

भावार्थ—हे सखी! इन नेत्रों से बादल हार गये। ये ऋतुकाल का ध्यान न करके रातदिन बरसते हैं जिसके कारण नेत्रों की कनीनिकाओं में सदा धुन्धी सी पड़ी रहती है। इन नेत्र रूपी बादलों के बरसने के साथ ही साथ ऊर्ध्व-श्वास रूपी वायु बड़ी तीव्र गति से चल रही है, इसने सुख रूपी अनेक वृक्षों को समूल उखाड़कर फेंक दिया है। दुःख रूपी पावस से बचने के लिए बचन रूपी पक्षी डरकर दिशाओं को अपना निवास बनाये हुए हैं अर्थात् वियोगिनी व्रज-वनिताओं के मुख से दुःख के कारण एक भी शब्द नहीं निकलता। जिस प्रकार बादल थोड़ी-थोड़ी दूर पर गरज-गरज कर पानी बरसता है उसी प्रकार गोपियाँ जब श्रीकृष्ण का स्मरण कर रोती हैं तो उनकी आँखों से आँसू की धारा निकलने लगती है। सूरदास जी कहते हैं कि गोपियों की अश्रुधारा से व्रज डूब रहा है, अब गोवर्धन-धारण करने वाले श्रीकृष्ण के बिना कौन व्रज को डूबने से बचा सकता है।

टिप्पणी—इस पद में नेत्रों को मेघ बनाकर पावस का चित्र खींचा गया है। गोपियों के दुःख की पराकाष्ठा इस पद में दिखाई गयी है। इसमें प्रतीप, रूपक और अतिशयोक्ति अलंकार है।

मलार

३३—शब्दार्थ—मदन—कामदेव; पिक—कोयल; चहूँ-दिसि—चारों ओर; हुते—थे।

प्रकरण—वर्षा के प्रारम्भ में जब ब्रज में बादल आकाश पर दिखाई पड़ा तो उस समय कोयल और पपीहे प्रसन्न होकर बोलने लगे इसे सुनकर वियोगिनी ब्रज-वनिताओं के हृदय में एक टीस सी उठती है। इसी का वर्णन कोई गोपी अपनी सखी से कर रही है।

भावार्थ—हे सखी! बादल ब्रज पर वृष्टि करने के हेतु आकाश में छा गये। जान पड़ता है कि श्याम ने कामदेव की सेना मधुबन में भेज दी है जहाँ वह अपनी सेना को सुसज्जित कर रहा है। अपनी ग्रीवा ऊँचा कर और आँखों में आनन्द के आँसू भर कर पपीहा जो पी-पी कर रहा है और कोयल जो कुहुक रही है, यही मानों कामदेव के युद्ध का बाजा है। श्याम के विरह ने अपने अनेक रूप बना कर हमें चारों ओर से घेर रक्खा है इसलिए अब हम किधर-कैसे भागें। अभी तक यह कहा जाता था कि श्याम दूसरे की पीड़ा को समझने वाले हैं पर वे हमारी पीड़ा को दूर करने के काम न आये उल्टा हमें विपत्ति-ग्रस्त बनाने के काम आये। वे तो अब मथुरा में राज करने लगे हैं और उनकी महिमा वहीं शोभा पा रही है।

टिप्पणी—इसमें रूपक अलंकार द्वारा गोपियों का विरह-वर्णन करते हुए प्रथम वर्षा का चित्र खींचा गया है देखिए, चतुर्थ पंक्ति में जो वर्णन किया गया है वह कितना सुन्दर है। बात भी सच है, चारों ओर से सेना द्वारा घिर जाने पर प्राण-रक्षा कैसे सम्भव हो सकेगी।

सोरठ

३४-शब्दार्थ—मदनगोपाल—श्रीकृष्ण ; मग—राह ; हारे—थक गये।

प्रसंग—जब गोपियों ने यह सुना कि जरासन्ध के उपद्रवों के कारण श्रीकृष्ण जी मथुरा त्यागकर द्वारिका के प्रवासी हुए हैं तो उन्हें बहुत दुःख हुआ। इसी बात को कोई गोपी अपनी सखी से कह रही है।

भावार्थ—हे सखी! हमारे नेत्र अब अनाथ हो गये। सुना है कि श्रीकृष्ण जी मथुरा से भी अधिक दूर (द्वारिका) चले गये हैं। भगवान् श्रीकृष्ण जी जल रूप हैं और हम बेचारी मछलियों के सदृश्य हैं, उनसे अलग होकर अब कैसे जियें? हम चातकी थीं और वे कृष्ण मेघ थे। हम चकोरी बनकर प्यारे के मुखचन्द्र की सुधा-चन्द्रिका का नित्य पान किया करती थीं। अभी तक हम उनके दर्शन की आशा किये मधुबन में वास करती थीं। हमारे नेत्र यहाँ उनकी राह देखते-देखते थक गये किन्तु उनके दर्शन न हो सके। हे सखी! मैं अब क्या बताऊँ। द्वारिका-प्रवासी बनकर श्रीकृष्ण ने ऐसा किया है जैसे कोई मरे हुए को मारे।

टिप्पणी—प्रियतम के द्वारिका-प्रवास का दुखद समाचार सुनकर गोपियों को जो आघात पहुँचा है उसका चित्रण इस पद में किया गया है।

आसावरी

३५—शब्दार्थ—रसना—जिह्वा ; पठई—भेजा, विदा किया।

भावार्थ—एक दिन रास्ते में राधा और कृष्ण की भेंट हो गयी। वे इस प्रकार चिपक कर गले मिले कि राधा कृष्ण के समान और कृष्ण राधा के समान दिखाई देने लगे। उनकी दशा कीट भृंग की तरह हो गयी। राधिका श्रीकृष्ण के

प्रेम में शराबोर हुईं और श्रीकृष्ण राधिका के प्रेम में। राधिका और श्रीकृष्ण के निरन्तर बढ़ने वाले इस प्रेम का वर्णन वाणी नहीं कर सकती। श्रीकृष्ण जी ने राधिका से मुसकाकर कहा कि "मुझ में और तुम में अब कुछ अन्तर नहीं है।" ऐसा कहकर उन्होंने राधिका को विदा किया। महात्मा सूरदास जी कहते हैं कि राधा और श्रीकृष्ण का यह ब्रज-विहार नित्य नवीनता से युक्त रहता है।

टिप्पणी—इसमें संयोग-शृंगार वर्णित है। अलंकार उपमेयोपमा है।

कान्हरा

३६-शब्दार्थ—बीच—अन्तर ; संतत—सदा ; अवलम्ब—आश्रय।

सन्दर्भ—श्रीकृष्ण के भेजे हुए उद्धव जी गोपियों को निर्गुण ब्रह्म की आराधना का उपदेश करते हैं। गोपियाँ उनके इस उपदेश का खण्डन करती हैं।

भावार्थ—हे उद्धव जी! पहले आप ब्रज की स्थिति पर विचार कर लें, तत्पश्चात् अपनी इस सिद्धि और योग कथा का प्रचार करें। आप अपने मन में उस बात पर विचार करें जिस के कारण कृष्ण ने आप को यहाँ भेजा है। विरह और परमार्थ-साधन में कितना अन्तर है, यह आप जानते हैं वा नहीं? आप प्रवीण हैं, अपने को चतुर लगाते हैं तथा सदैव प्रभु के निकट रहते हैं इतना होते हुए भी हम जल में डूबती हुई गोपियों का फेन का अवलम्ब ग्रहण कराने की क्यों सोचत हो? बताओ, हम हरि की मुसकानि और मनोहर चितवन को अपने हृदय से कैसे हटायें? हम मुरलीधर की उस मुरली पर आप की योग-युक्ति

और परमनिधि के समान मुक्ति को निछावर करती हैं। भला बताइए, जिस हृदय में कमल-नयन श्रीकृष्ण वास करते हैं वहाँ निर्गुण ब्रह्म का प्रवेश कैसे हो सकता है? हम उस भजन का परित्याग करती हैं जो कन्हैया से विमुख कराकर दूसरे की उपासना पर जोर देता है।

टिप्पणी—इस पद में निर्गुण मत का खण्डन और सगुण मत का मण्डन अत्यन्त सुन्दर रीति से किया गया है। देखिए, गोपियों की युक्ति इसमें कितनी जोरदार है।

श्री

३७—शब्दार्थ—अकास—शून्य ; निर्गुण ब्रह्म।

प्रसंग—गोपियाँ उद्धव जी को समझाती हैं।

भावार्थ—हे उद्धव जी! ध्यानपूर्वक देखिए। न तो हम सब सच्ची विरहिणी हैं और न आप प्रभु के सच्चे सेवक हैं। हम दोनों ही विपरीत धर्म का आश्रय ग्रहण किये हुए हैं। हम गोपियों ने श्रीकृष्ण जी के वियोग में उनके नाम का स्मरण करते हुए अपने प्राणों की रक्षा की है और तुम प्रभु के सेवक होकर भी उनकी सेवा से विमुख हो रहे हो और शून्य की उपासना कर रहे हो। देखिए सच्ची विरहिणी है मछली, जो जल से विलग होते ही जीने की आशा का त्याग कर अपने प्राण खो देती है। इसी प्रकार सच्ची दास-भावना पपीहे में है क्योंकि वह प्यासा रह जाता है पर स्वाति-मेघ के सिवा अन्य से जल की याचना नहीं करता। कमल भी चन्द्रमा से अकारण ही उदासीनता रखता है, वह सूर्य से सच्चा प्रेम करता है किन्तु अपने इस प्रेमी के इस दोष पर ध्यान नहीं देता जिससे जलाशय का जल सूख जाता है। वह विधाता द्वारा जल से वंचित किये जाने पर कीचड़ में ही विहरता

हुआ उसी के साथ नष्ट हो जाता है। अपने प्यारे पुत्र राम के वन-गमन से दुखी होकर महाराज दशरथ ने अपने प्राण त्याग दिये और इस प्रकार राम प्रेम को पूर्ण किया। सूरदास जी कहते हैं कि गोपियों ने जगत के उपहास पर ध्यान न देकर श्रीकृष्ण में पतिव्रत धर्म का निबाह किया है।

टिप्पणी—इसमें अर्थान्तरन्यास अलंकार है।

बिलावल

३८—शब्दार्थ—निमिष—पल भर; काजैं—लिए; अलि-भ्रमर। यहाँ अलि के नाम से उद्धव जी की ओर संकेत किया गया है।

सन्दर्भ—गोपियाँ उद्धव जी से प्रेम की मर्यादा कहती हैं।

भावार्थ—हे अलि! मीरा ने प्रेम के कारण संसार को त्याग दिया। स्वाति-नक्षत्र में गिरने वाली बूँदों का प्रेम पपीहा नहीं त्यागता, इसलिए प्रत्यक्ष रूप से 'पी-पी' की रट लगाता है। मछली अपने प्रेमी जल की बातें अच्छी तरह समझती है और अन्त में विवश होकर अपने प्राणों को छोड़ देती है। हिरन जानते हुए भी बीन की मधुर ध्वनि का मोह नहीं छोड़ता और इसी कारण व्याध बध के बाणों का शिकार होता है। चकोर ने चन्द्रमा को देखते-देखते युग व्यतीत कर दिया किन्तु पल भर के लिये भी उसने अपनी पलकें बन्द नहीं कीं। पतिंगा दीपक की लौ को देखकर अपने शरीर को जला डालता है, उसका प्रेम-घट कभी रिक्त नहीं होता। हमें भी इन्हीं प्रेमियों का अनु-सरण करना चाहिये; फिर हम लोगों के साथ श्रीकृष्ण जी ने जो-जो भलाइयाँ की हैं, उन्हें कैसे भुलाएँ और हम एक देह के कारण हम श्याम को कैसे छोड़ें?

टिप्पणी—इसमें प्रेम को पूर्ण करने के लिए आत्मोत्सर्ग की बात कही गयी है और कतिपय प्रेमियों के दृष्टान्त दिये गये हैं। इसमें अर्थान्तरन्यास अलंकार है।

धनाश्री

३९—शब्दार्थ—ताती—गर्म ; परसत—छूने से ; मदन—कामदेव।

प्रकरण—मथुरा-प्रवास के बहुत दिनों बाद श्रीकृष्ण ने एक चिट्ठी भेजी है। जिसके विषय में वियोगिनी गोपी कहती है।

भावार्थ—व्रज में श्रीकृष्ण की भेजी हुई चिट्ठी को कोई नहीं पढ़ता, फिर भी न जाने क्यों वे छुरी की भाँति आघात करने वाली विरह की कठिन गाथा लिख-लिखकर भेज रहे हैं। वियोग के कारण यहाँ सभी गोपियों के आँखों में आँसू भरे हुए हैं और हाथों की उँगलियाँ जल रही हैं। चिट्ठी का कागद कोमल है इसलिए छूने से उनके जल जाने का डर है और देखने से भींगने का डर है। दोनों ही भाँति हार्दिक दुख है। सूरदास जी कहते हैं कि काम के बाणों से घायल हुई ये गोपियाँ उन अक्षरों को किस प्रकार बाँचकर अपनी छाती शीतल करें। ये तो श्यामसुन्दर के चरणों को देखकर ही रात दिन जीती हैं।

टिप्पणी—इस पद की कल्पना अधिक ऊहात्मक हो गयी है। इसमें अतिशयोक्ति अलंकार है।

केदारा

४०—शब्दार्थ—अड़े—अटक गये हैं।

प्रकरण—गोपियाँ उद्धव जी से अपना और श्रीकृष्ण का प्रेम वर्णन करती हैं।

भावार्थ—हे उद्धव जी, हमारे हृदय में माखन-चोर श्रीकृष्ण को त्रिभंगी मूर्ति गड़ गयी है। हृदय में जाकर यह त्रिभंगी मूर्ति तिरछी हो गयी है और अब उपाय करने पर भी किसी प्रकार नहीं निकलती है। यशोदानन्दन श्रीकृष्ण जी यद्यपि अहीर हैं फिर भी छोड़े नहीं जाते। अब वे मथुरा जाकर यदुवंश के प्रतिष्ठित कुल में सम्मिलित हो गये हैं पर वहाँ पर भी वे हमें बड़े नहीं लगते। हम नहीं जानतीं कि वासुदेव कौन हैं और देवकी कौन हैं। इस समय श्यामसुन्दर के देखे बिना हमें और कोई बात नहीं सूझती।

टिप्पणी—"तिरछे ह्वै जु अड़े" इस पद का सर्वस्व है यह प्रकृत सिद्ध बात है कि कोई बड़ी और टेढ़ी वस्तु किसी संकीर्ण मुँह वाले बरतन के अन्दर यदि अटक जाती है तो प्रयत्न करने पर भी उसका निकलना कठिन ही होता है। यही गति गोपियों की है, मन में श्याम की जो त्रिभंगी मूर्ति गड़ गयी है वह क्यों निकलने लगे?

बिलावल

४१—**शब्दार्थ**—दाख—अंगूर; मधुप—भ्रमर।

भावार्थ—गोपियाँ उद्धव जी से कहती हैं कि हे उद्धव जी! यह तो अपने मन-पटे की बात है कि कोई किसी से प्रेम करे। देखिए, विष का कीड़ा अंगूर और छुहारा जैसा अमृत फल छोड़कर विष खाता है। यदि चकोर को कपूर जैसी वस्तु दी जाय तो वह उसे त्याग कर अंगार खाता है और उसी में अपनी तृप्ति मानता है। जो भौंरा काठ में छेद करके उसमें अपना वासस्थान बना लेता है वही कमल के पत्तों में बंध जाता है। इसी प्रकार पतिंगा अपना हित जानकर दीपक से लिपट जाता है। (यद्यपि

ऐसा कर वह अपने प्राणों को खो देता है) सूरदास जी कहते हैं कि जिसके मन में जिसकी चाहना है वही उसको प्यारा लगता है (भले ही उसका प्रिय उसके लिये हितकर न सिद्ध हो)।

टिप्पणी—इस पद में अर्थान्तरन्यास अलंकार है।

भैरवी

४२—शब्दार्थ—कृस—दुर्बल।

सन्दर्भ ब्रज से लौटे हुए उद्धव श्रीकृष्ण जी से ब्रज का समाचार कहते हैं।

भावार्थ—हे श्रीकृष्ण जी ! सुनिए तुम्हारे बिना ब्रजवासी जिस प्रकार अपना दिन काट रहे हैं उसको तुमसे कहाँ तक कहूँ। वहाँ पर गोपियाँ, गोप, गायें और बछड़े इतने दुबले और मलीन हो गए हैं जैसे शिशिर में हिम के आघात से कमल-पुष्प पत्ते से हीन और अत्यन्त दीन हो जाता है। सभी ब्रजवासी यदि किसी को दूर से आता हुआ देखते हैं तो (यह अनुमान करके कि यह श्रीकृष्ण के पास से आ रहा होगा) उससे तुम्हारा कुशल-समाचार पूछने लगते हैं और अत्यन्त प्रेमातुर होकर उसके हाथ जोड़ते हैं, पैर पकड़ते हैं और उसे आगे नहीं बढ़ने देते। पपीहा और कोयल इन ब्रजवासियों के मारे वन में रहने नहीं पाते और कौआ बलि का अन्न भी नहीं खाता। यात्री तो संदेशों के डर से उस रास्ते पर अब जाते ही नहीं।

टिप्पणी—इसमें उत्प्रेक्षा और अतिशयोक्ति अलंकार है।

देश

४३—शब्दार्थ—छीन—दुबली।

संदर्भ—उद्धव श्रीकृष्ण जी से राधिका जी की दशा कहते हैं।

भावार्थ—हे सुजान श्याम ! तनिक चित्त देकर (राधिका की बात) सुनिये । मैंने तुम्हारे विरह में राधिका जी को बहुत क्षीण देखा है । उन्होंने तेल लगाना, ताम्बूल खाना और भूषण पहिनना त्याग दिया है, वे अब मलीन वस्त्र धारण करती हैं । शरीर की क्षीणता के कारण राधिका की कलाई का कंकन भुजा तक चढ़ गया है । वे जब अपना सन्देश तुम से कहने के लिए मेरे पास आईं तो करधनी खिसक कर चरणों में उलझ गयी और वे शक्तिहीना उस में अटक कर पृथ्वी पर गिर पड़ीं । उन के कंठ से उस समय वाणी नहीं निकलती थी । अपनी असमर्थता देखकर) आँखों में आँसू भर कर वे रो पड़ीं । उनका हृदय आपत्ति-ग्रस्त और दीन है । पृथ्वी पर गिरने के पश्चात् राधिका जी एक वीर के समान अत्यन्त साहस करके उठीं । (ऐसी संकटपूर्ण परिस्थिति में) हे प्रभो ! वे आप से मिलने की आशा करके ही जी रही हैं और इसी में वे अपना कल्याण मान रही हैं ।

टिप्पणी—इस में विरह-विधुरा राधिका जी के शरीर की विरह-जन्य कृशता दिखाई गयी है । इसमें अतिशयोक्ति की भी अति हो गयी है ।

मलार

४४-शब्दार्थ—मधुकर—भ्रमर (यहाँ पर इस शब्द से उद्धव जी को सम्बोधित किया गया है । स्वान-पूँछ—कुत्ते की पूँछ ; नलिन—कमल ; अमिय—अमृत ।

सन्दर्भ—गोपियाँ उद्धव जी से कहती हैं ।

भावार्थ—हे मधुकर ! (उद्धव जी) हमारे ये मन (आज कल) बिगड़ गये हैं । ये गीता का ज्ञान समझने की चेष्टा नहीं

करते (और व्यर्थ ही) श्रीकृष्ण की मधुर-मुसकान में फँस गये हैं। श्रीकृष्ण के सौन्दर्य-रस का पान करके ये उसी प्रकार अत्यन्त कुटिल और खरे हो गये हैं तथा बहुत समझाने से भी नहीं मानते, जिस प्रकार कुत्ते की पूँछ करोड़ों यत्न करने पर भी सीधी नहीं होती। ये हरि के चरण-कमलों को थोड़ी देर के लिए भी नहीं भूलते क्योंकि उनको पाकर ही हृदय में शीतलता का संचार होता है। आपकी योग-गाथा गहरी अन्धकूप है, जिसे दूर से देखने में ही डर मालूम होता है। भगवान् श्रीकृष्ण का प्रेम ही हम लोगों का सुहाग और भाग है। भले ही श्रीकृष्ण के वियोग में अपना सारा जीवन व्यतीत करना पड़े किन्तु हम उनके अनुरागामृत को छोड़कर आपके इस योग रूपी विष को, जो हमें नष्ट कर सकता है) कदापि न स्वीकार करेंगी।

टिप्पणी—इसमें उपमा अलंकार है।

धनाश्री

४५—शब्दार्थ—हुतो—था ; आराधै—आराधना करे।

भावार्थ—गोपियाँ उद्धव जी से कहती हैं कि हे उद्धव जी ! हमारे दस-बीस मन नहीं है। हमारे पास केवल एक मन था वह तो श्रीकृष्ण के संग चला गया, ऐसी दशा में अब आपके निर्गुण ब्रह्म की आराधना कौन करे ? श्रीकृष्ण के बिना हम सब ऐसी व्यर्थ हो गयी हैं जैसे बिना शिर के शरीर। हमारी श्वासें कृष्ण दर्शन की आशा से ही चल रही हैं। भगवान् उन्हें करोड़ों वर्ष तक जीता रक्खे। आप (उद्धव जी) श्यामसुन्दर के मित्र और सब प्रकार के योगों के स्वामी हैं। हमारी प्रार्थना है कि जगदीश्वर (श्रीकृष्ण) हमारी प्रेम-भरी बातें पूर्ण करें।

टिप्पणी—'मन नाहीं दस-बीस' इस पद का सर्वस्व है। जान पड़ता है कि इस पद में निर्गुण-ब्रह्म की स्थिति सिद्धान्त रूप से गोपियों ने स्वीकार कर ली है पर प्रकारान्तर से यह कहकर कि, हमारा मन तो श्रीकृष्ण में उलझा हुआ है, अब कौन निर्गुण ब्रह्म की आराधना कौन करे, इसे अव्यवहार्य ठहराया है।

ईमन

४६–शब्दार्थ—बिसरत नाहीं—भूलता नहीं है।

भावार्थ—श्रीकृष्ण जी उद्धव से कहते हैं कि हे उद्धव! ब्रज मुझे भूलता नहीं है, मैं ब्रज में घने वृक्षों की छाया के नीचे-नीचे चलकर वृन्दावन से गोकुल आया करता था। प्रातःकाल नन्द और यशोदा मुझे देखकर प्रसन्न होते थे और अत्यन्त प्रेम से दही से सजायी हुई मक्खन-रोटी हमें खिलाया करते थे। मैं गोपियों और ग्वाल-बाल के साथ खेलता था। सारे दिन हँसते-हँसते बीतते थे। सूरदास जी कहते हैं कि वे ब्रजवासी धन्य हैं, धन्य हैं जिनके संग ब्रजनाथ श्रीकृष्ण जी मनोविनोद किया करते थे।

टिप्पणी—इसमें स्मरण अलंकार है।

ईमन

४७–शब्दार्थ—चहुँधा—चारों ओर; पसारे—फैलाये हुए।

भावार्थ—गोपियाँ कहती हैं कि अब मुझे रात को देखते ही डर लगता है। हमारे प्राण बार-बार आकुल होकर इस शरीर से भाग निकलने की चेष्टा करते हैं। पूर्व-दिशा में पूर्णिमा का चन्द्र देखकर हमारा शरीर अत्यन्त गर्म हो गया है मानों हम

विरहिणियों को देखकर उसने क्रोध किया है। उसने भौंहों को तिरछी करके अपने कलंक-चाप पर क्रोध से बाण चढ़ाया है और चारों ओर किरण रूपी बाणों को प्रसारित किया है इस प्रकार उसने हठात् हमें जोगिन बनाना चाहा है। ऐ मूर्ख चन्द्र! तू सुन। मेरा प्राणपति वही है जिसके यश को संसार जानता है और जिसने तुझे समुद्र में डूबने से बचा लिया है, तिस पर भी तू उसके उपकार को नहीं मानता है।

टिप्पणी—इसमें वियोग शृंगार है। पूर्णिमा का चन्द्र यहाँ पर विरहिणियों के लिए दुखदायी है। इसमें उत्प्रेक्षा अलंकार है।

मलार

४८—शब्दार्थ—माई—सखी; ज़रें—जोर से।

भावार्थ—कोई गोपी अपनी सखी से कहती है कि हे सखी! मोर भी अब टेर करने लगे हैं। बादल गरजते हैं, वे मना करने से नहीं मानते और उनकी देखादेखी अपेक्षाकृत अधिक आवाज से ये मोर भी कुहुक रहे हैं। श्रीकृष्ण ने इनके पंखों को बीन करके इकट्ठा किया है और अपने शिर पर धारण किया है। श्रीकृष्ण ने ही इनको ढीठ किया है। इसी कारण से ये हमें सताते हैं। हे सखी! पता नहीं क्यों ये हमसे रार करते हैं। श्रीकृष्ण तो परदेश चले गये किन्तु ये मोर अभी तक बन से नहीं हटे।

टिप्पणी—वर्षा काल में मोर की कुहक वियोगिनियों को किस प्रकार दुख देने वाली होती है, यह इसमें सुन्दर ढङ्ग से दर्शायी गयी है।

सालकोश

४६–शब्दार्थ—सम—संतोष।

सन्दर्भ—विदा होते समय श्रीकृष्ण जी व्रजवासियों को सान्त्वना देते हैं।

भावार्थ—हे व्रजवासियो! व्रज का हित करना ही मेरे लिए इष्ट है। मैं सब के निकट रहता हूँ, किसी से भी दूर नहीं हूँ। मैं रात-दिन उस (व्यक्ति) का उसी प्रकार चिन्तन करता हूँ जो जिस प्रकार मेरा स्मरण करता रहता है। जिस प्रकार दर्पण में अपना प्रतिबिम्ब भली-भाँति दिखाई देता है उसी प्रकार भक्त भक्ति रूपी दर्पण में अपने प्रेम का वास्तविक प्रतिबिम्ब देखता है। श्रीकृष्ण जी ऐसा कहकर सभी व्यक्तियों को सान्त्वना दे रहे थे, उस समय उनकी आँखों में आँसू भर आये थे। सूरदास जी कहते हैं कि कृष्ण का यह प्रेम मुझ से कहा नहीं जाता।

टिप्पणी—इसमें बताया गया है कि प्रभु सर्वत्र व्याप्त हैं। जो उनसे जितना प्रेम करेगा उस पर उतनी ही कृपा होगी।

बिलावल

५० –शब्दार्थ—सर—बाण ; बपु—शरीर ;

भावार्थ—महात्मा सूरदास जी कहते हैं कि कामदेव के समान सुन्दर हे गोविन्द! हे मुरारी! आपको बारम्बार नमस्कार है। माया, लोभ, क्रोध और अभिमान तथा सत्व, रज और तम आदि गुण जीव के लिए फाँस के समान हैं। काल सदा (जीव को अपना लक्ष्य बनाने के लिए बाण साधे रहता है। फिर तुम्हारा स्मरण कोई मनुष्य कैसे करे। तुम निर्गुण और निराकार हो। देवता गण प्रयत्न करके थक गए किन्तु तुम्हारा वास्तविक रहस्य न

जान सके फिर बेचारे मनुष्य की क्या सामर्थ्य जो तुम्हें ठीक-ठीक जान सके। तुम सतयुग में श्वेत, द्वापर में लाल और कलियुग में कृष्ण वर्ण का शरीर धारण कर अवतरित हुए हो। ऐसे संसार को मिथ्या कैसे कहा जाय जहाँ कितने ही व्यक्ति तुम्हारा गुण गान करते हुए भवबंधन से मुक्त हो गये। जिस प्रेम-स्वरूपा भक्ति के बिना जीव को मुक्ति नहीं मिलती, हे नाथ ! कृपया उसे प्रदान कीजिए। हमने संसार में और सब कुछ करके देख लिया और अंत में इसी निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि तुम्हारी कृपा से ही सब कुछ सिद्ध हो सकता है। हे प्रभो ! यह शरीर एक ग्राम के सदृश्य है। इसमें शब्द, रूप, रस, गंध और स्पर्श आदि इंद्रियों के विषय विश्राम-स्थल हैं। हे भगवान् ! तुम सब के अधिष्ठाता हो। संसार ने आप की स्थिति को अभी तक नहीं जान पाया है। हे नाथ ! तुम्हारी श्वास में पृथ्वी की स्थिति है और हम सब भी तुम्हारे श्वास-रूप हैं। हम क्या कहकर तुम्हारी स्तुति करें। हम "नमस्ते-नमस्ते" कहकर तुम्हारी स्तुति करते हैं। हे प्रभो ! तुम जगत्पिता हो इसलिए हे जगदीश्वर ! हम तुम्हारी विनती करते हैं। तुम्हारे समान और कोई दूसरा नहीं है। हे नाथ ! हम तुम से किसकी उपमा दें। जिस प्रकार शुकदेव जी ने वेद की स्तुति गाई है वैसे ही मैंने भी तुम्हारी विनती की है। सूरदास जी अपने श्री-मुख से कहते हैं कि जो भगवान् का नाम-स्मरण करता है वह भवसागर पार हो जाता है।

जैतिश्री

५१—शब्दार्थ—कहा—क्या ; अनुचर—पीछे चलने वाला, सेवक।

भावार्थ—हे नाथ ! आप जैसे ही मुझे रक्खेंगे मैं वैसे ही

रहूँगा। आप सभी के दुख-सुख को जानते हैं अतएव मैं अपने मुख से अपने विषय में क्या कहूँ? हे कृपानिधि! मुझे तो कभी पेट भर भोजन मिल जाता है और कभी वैसे ही भूखा रह जाना पड़ता है। कभी हाथी-घोड़े पर चढ़कर घूमता हूँ और कभी स्वयं बोझा ढोता हूँ। हे कमल-नयन श्रीकृष्ण जी! मैं आप का दास बनना चाहता हूँ, इसलिए हे कृपानिधि! मैं आप के पैरों को पकड़ता हूँ। कृपया मुझे अपना लीजिए।

टिप्पणी—इसमें प्रकारान्तर से अपनी यथास्थिति में संतोष मानकर प्रभु की सेवा में निरत रहने के लिए कहा गया है।

धनाश्री

५२—शब्दार्थ—श्रवण-पात्र—कान रूपी पात्र ; काको—किसका ; तोकों—तुझे।

भावार्थ—सूरदास जी कहते हैं कि हे जीव रूपी तोते! तू अब उस वन में अर्थात् गोलोक में चल जहाँ पर तुझे अपने श्रवण रूपी पात्र में कृष्ण नाम रूपी अमृत रस खूब पीने को मिले। तात्पर्य यह है कि जीव को गोलोक में जाने का यत्न करना चाहिए जहाँ पर हर समय भगवन्नाम का संकीर्तन होता है। देख, यहाँ संसार में कौन किसका पुत्र है और कौन किसका पिता है अर्थात् कोई किसी का न तो पिता है और न कोई किसी का पुत्र ही है। वस्तुतः यह संसार का मिथ्या-भ्रम है। ऐ जीव रूपी सुए! तुझे काल रूपी बिलार ले जायगा और तू "यह मेरा है, यह मेरा है" कहता ही रह जायगा और कुछ भी नहीं कर सकेगा। इसलिए तू मेरे साथ चल, मैं तुझे प्रभु के अनेक प्रकार के आनन्द से परिपूर्ण मुक्ति-क्षेत्र का दर्शन कराऊँगा। तुझे यदि साधुओं की संगति मिल जाय तो तेरा बहुत बड़ा भाग्य है।

टिप्पणी—इसमें साधुओं के सतसंग से जीव को मुक्ति बताई गयी है।

बिहाग

५३—शब्दार्थ—सरल है।

भावार्थ—सूरदास जी कहते हैं कि ऐ मूर्ख मन! तू ने व्यर्थ ही में अपना यह जन्म खो दिया है। तू ने अभिमान किया और विषयों में तल्लीनता दिखायी किन्तु भगवान् की शरण नहीं आया। तू सेमर के फूल के समान संसार को सुन्दर समझ कर उसी में भूल गया किन्तु जब तू संसार रूपी सेमल फल को चखने लगा तो इस में तुझे रुई के भूहे ही भूहे मिले। ऐसी दशा में तुझे इससे कुछ लाभ नहीं हुआ। तू इस समय संसार से निराश है किन्तु हे मन! अब कुछ सोचना ही व्यर्थ है, जब कि तू ने भगवान के भजन की पहले से कमाई नहीं की है। तू ही देख कि भगवान् के भजन बिना तुझे अब किस प्रकार सिर धुनना और पछताना पड़ रहा है।

टिप्पणी—इसमें शान्त रस है।

गौरी

५४—शब्दार्थ—घनेरी—बहुत; दुर्लभ—कठिन।

भावार्थ—महात्मा सूरदास जी कहते हैं कि हे मन! जिस दिन जीव रूपी पक्षी इस शरीर रूपी वृक्ष पर से उड़ जायगा उस दिन तेरे शरीर रूपी वृक्ष के सभी पत्ते झड़ जायेंगे। तेरे शव को देखकर लोग कहेंगे कि इसे तुरंत निकालो नहीं तो भूत बनकर यह किसी को पकड़ लेगा। तू जिसका सबसे प्यारा रहा वह भी तेरी यह दशा देखकर घृणा करेगा। उस समय न तो तेरा पहले का सा शरीर रहेगा और न पहले की सी शोभा ही,

सभी तेरा दाह-संस्कार कर तेरी धूल उड़ायेंगे। भाई-बंधु और कुटुम्ब के सभी लोग तेरा स्मरण कर पश्चाताप करेंगे। देख, श्रीकृष्ण के अतिरिक्त संसार में अपना कोई नहीं है। मरने के पश्चात् तेरा यश और अपयश ही शेष रह जायगा। इसलिए तू सत्संग कर, वहाँ तुझे वह वस्तु मिलेगी जो देवताओं के लिए भी दुर्लभ है।

टिप्पणी—इस पद में मरने के पश्चात् का दृश्य खींचकर जीव के हृदय में वैराग्य उत्पन्न किया गया है।

सारङ्ग

५५—शब्दार्थ—रसना—जिह्वा ; बौरे—मूर्ख ; बिरथा—व्यर्थ।

भावार्थ—महात्मा सूरदास जी कहते हैं कि हे मन ! तेरा यह जीवन व्यर्थ में नष्ट हो रहा है। तनिक सोच तो सही कि वृक्ष के पत्ते के समान इस शरीर से बिछुड़कर तू फिर इससे कैसे मिल सकेगा। मृत्यु के समय वात, पित्त और कफ का जोर होने से तुझे सन्निपात होगा और कंठ-अवरुद्ध होने के कारण तेरे मुख से बात तक न निकलेगी। हे मूर्ख, जब यम के दूत तेरा प्राण निकाल कर ले चलेंगे तो उस समय माता-पिता देखते ही रह जायँगे। इनसे कुछ करते नहीं बनेगा। नरक की बात तो पीछे रही, इस समय तुझे एक क्षण करोड़ों युग के समान प्रतीत होगा। ऐ मूर्ख मन, तेरा और संसार का यह प्रेम तोता-सेमल के प्रेम के समान निस्सार है। जैसे तोता सेमल पर आशा लगाता है किन्तु अंत में जब वह उसको चखने के लिए जाता है तो उसकी रुई देखकर वह बहुत ही निराश होता है वैसे ही तुझे भी संसार से निराशा होना पड़ेगा इसलिए तू यम के फंदे में न पड़ और

अपना चित्त प्रभु के चरणों में लगा दे। तू अपने हृदय में इस देह के लिए अभिमान न कर, इस पर गर्व करना व्यर्थ है।

टिप्पणी—इस पद में वैराग्य की प्रवृत्ति दिखायी गयी है।

सारङ्ग

५६-शब्दार्थ—सो—समान ; दाम—माला, समूह।

भावार्थ—महात्मा सूरदास जी कहते हैं कि व्रज का सा सुख संसार में कहाँ है। ऐ मन ! तू विचार कर के देख कि जमुना के किनारे जो सुखद वंशी बट है, वैसा अन्यत्र कहाँ है ? कहाँ मधुबन है, कहाँ कृष्ण के सङ्ग में राधा हैं और कहाँ सारी व्रजांगनाएँ हैं ? कहाँ रस-रास के रचाने वाले आत्मानन्द श्रीकृष्ण जी गोपियों के बीच में हैं ? कहाँ ऐसे वनधाम (मधुबन आदि) हैं जहाँ पर अनेकों कुंज हैं और कहा कुंजों के बीच-बीच में झूले पड़े हुए हैं और कहाँ पर वैसी लताएँ हैं तथा हमारे प्रभु के वियोग में मिलने वाला गोपियों का वह विरहानन्द कहाँ है ?

टिप्पणी—इस पद में व्रज का आनन्द वर्णन किया गया है और इस आनन्द को प्राप्त करने के लिये मन को प्रेरित किया गया है।

भैरवी

५७--शब्दार्थ—सरल है।

भावार्थ—सूरदास जी कहते हैं कि जो सदैव एकरस हैं, अखण्ड हैं, आदि और अनादि हैं तथा जो अनूप हैं वे युगल मूर्ति राधाकृष्ण जब विहार करते हैं तो करोड़ों कल्पों को बीतते देर नहीं लगती। विश्व के समस्त तत्व, ब्रह्माण्ड, समस्त देवता, माया, ब्रह्मा, काल, प्रकृति और लक्ष्मीपति

भगवान विष्णु आदि सभी गोपाल कृष्ण के अंश हैं। कर्म, ज्ञान और उपासना ने सभी को भ्रमित कर रक्खा है इसलिए गुरु स्वामी वल्लभाचार्य जी ने सारस्वरूपा प्रेमपरा भक्ति का उपदेश दिया और रस-रास का रहस्य समझाया। स्वामी वल्लभाचार्य का उपदेश पाकर मैं ने उसी दिन से प्रभु की लीला के गीत गाये और एक लाख पदों में प्रभु की वन्दना की। इस एक लाख के संग्रह का सार "सूर-सारावलि" है। इसे मैं आनन्द से गाता हूँ।

टिप्पणी—इस पद में सूरदास जी ने अपना वैष्णव-सिद्धान्त कहा है। प्रकृति, पुरुष, काल आदि सभी इसमें नित्य बिहारी प्रभु के अंश मात्र बताये गये हैं। इसमें कवि ने अपनी एक लाख पदों की रचना का उल्लेख किया है।

बिलावल

पद-शब्दार्थ—सरल है।

भावार्थ—महात्मा सूरदास जी कहते हैं कि "कृष्ण, कृष्ण, कृष्ण, कृष्ण" कहकर प्रभु का स्मरण करो और भगवान् श्रीकृष्ण के चरण-कमलों को हृदय में रक्खो। जिस समय जहाँ पर भगवान् की कथा होती है वहाँ (उसी समय) गंगा जी आती हैं जमुना, सिन्धु, सरस्वती भी आती हैं तथा गोदावरी तो आने में विलम्ब ही नहीं करतीं, इस प्रकार सभी पवित्र नदियाँ उपस्थित हो जाती हैं। जहाँ पर भगवान् की कथा होती है वहाँ पर सब प्रकार के तीर्थ भी स्वतः उपस्थित हो जाते हैं।

टिप्पणी—इस पद में प्रभु के नाम-स्मरण की महत्ता प्रतिपादित की गयी है।

२—श्री नन्ददास

श्री नन्ददास जी स्वामी वल्लभाचार्य के पुत्र गोसाईं बिट्ठलनाथ जी के शिष्य थे। ब्रजभाषा के अष्टछाप के कवियों में श्री सूरदास जी के पश्चात् इन्हीं का स्थान है। ब्रजभाषा-साहित्य में जो परम्परा सूरदास जी ने चलायी वह बहुत दिनों तक चलती रही। श्री नन्ददास, रसखानि आनन्दघन प्रभृति अनेक कवि इसी परम्परा में आते हैं। इन सभी भक्त कवियों ने भगवान् श्रीकृष्ण की लीला का गायन संयोग और विप्रलम्भ शृंगार के रूप में किया है। नन्ददास जी ने उपर्युक्त रूप में श्रीकृष्ण की लीलाओं का गायन तो किया ही है साथ ही नायिका भेद, बारहमासा और षटऋतु वर्णन भी किया है।

नन्ददास जी के काव्य की समीक्षा—इनकी समस्त रचनाओं को देखने से पता चलता है कि ये उच्चकोटि के विद्वान्, भक्त, थकाकार तथा काव्य शास्त्र के ज्ञाता थे। वल्लभ-सम्प्रदाय के सिद्धान्तों के कट्टर उपासक होने के कारण इनकी रचनाओं में उक्त सम्प्रदाय की दार्शनिक विचारधारा का यथेष्ट निरूपण मिलता है। 'मान मञ्जरी और नाममाला' में 'अमर कोष' के आधार पर शब्दों के पर्यायवाची देते हुए राधिका का जो मान-वर्णन इन्होंने किया है, वह अपूर्व है। इनकी कुछ रचनाओं में कहीं-कहीं कथा-शृङ्खला टूटी सी है पर ऐसे स्थलों पर भावानुभूति की जो सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है उससे इस दोष का परिहार हो जाता है। इन्होंने शब्द-माधुर्य्य पर विशेष ध्यान दिया है इसलिए इनकी काव्य-भाषा में लालित्य मिलता है।

रासपञ्चाध्यायी

श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध में २९वें अध्याय से लेकर ३३वें अध्याय तक में श्रीकृष्ण और गोपियों की रासक्रीड़ा का वर्णन है। अपने एक रसिक-मित्र के आग्रह करने पर श्रीनन्ददास जी ने इसे भाषा में लिखा जो इस प्रकार है—

शरत् पूर्णिमा की रात्रि को गोपियों के साथ रस-क्रीड़ा करने का उपयुक्त समय देखकर श्रीकृष्ण जी दिव्य वस्त्राभूषणों से सुसज्जित हो वृन्दावन में चले आये। यहाँ अर्द्ध रात्रि के समय उन्होंने अपनी योगमाया-सी मुरली बजायी जिसे सुनते ही गोपियाँ अपने पिता-माता, बन्धु और पति को छोड़कर सावन की नदी की भाँति उमंगित होकर चल पड़ीं और नन्दनन्दन के पास पहुँच गयीं। गोपियों को देखकर श्रीकृष्ण मुस्कराये और कहने लगे—

अहो तिया कहा जानि; भवन तजि कानन डगरीं।
अर्द्ध गयी सर्वरी कछु न डर डरीं न सगरीं॥

इसके पश्चात् उन्होंने सभी गोपियों को अपने-अपने घरों को वापस लौट जाने के लिए कहा। यह बात सुनते ही गोपियाँ दुखित हुईं और कहने लगीं—

अधर सुधा के लोभ भईं हम दासि तिहारी।
ज्यों लुबधीं पद-कमलनि कमला नारी॥
जौ न देहु यह अधर अमृत, सुनि हो मोहन हरि।
करिहैं यह तन भसम, विरह पावक-मों गिरि परि॥

तब तो,

बिहँसि मिले नन्दलाल, निरखि ब्रजबाल बिरह बस।
जदपि आतमाराम, रमत भये परम प्रेम बस॥

रास-क्रीड़ा करते समय जब गोपियों ने देखा कि श्रीकृष्ण उनके संकेतों पर नाच रहे हैं तो उन्हें अपने रूप, गुण और प्रेम पर गर्व हो गया। गोपियों की यह दशा देखकर श्रीकृष्ण जी उनका गर्व चूर्ण करने और प्रेम-वृद्धि करने के लिये किसी कुञ्ज में छिप गये। प्रियतम को अपने बीच न पाकर गोपियाँ विरह की वेदना से विकल हो गयीं। उन्हें जड़-चैतन्य का कुछ भी ध्यान न रहा। वे वृन्दावन-स्थित सभी वृक्षों, लताओं तथा वन्य-पशुओं से श्रीकृष्ण का पता पूछने लगीं, पर कहीं भी उनका पता न लगा अंततोगत्वा निराश होकर वे श्रीकृष्ण पर उपालम्भ करने लगीं। गोपियों का दुख देखकर कुञ्जबिहारी श्रीकृष्ण जी द्रवित हो तत्काल उनके बीच प्रकट हो गये। नटनागर को अपने बीच सहसा देखकर गोपियाँ उनसे क्षमा-याचना करने लगीं किन्तु श्रीकृष्ण जी ने गोपियों के प्रति कृतज्ञता प्रकट कर तुरन्त ही उनके मन की गाँस मिटा दी और पुनः पूर्ववत् रास-क्रीड़ा में संलग्न हो गये। रास-क्रीड़ा की समाप्ति के पश्चात् जल-क्रीड़ा हुई और फिर ब्राह्म-मुहूर्त्त के समय सभी गोपियाँ और श्रीकृष्ण अपने घरों को वापस आये।

सामान्यतया इस 'रासपञ्चाध्यायी' को पढ़ने पर ऐसा प्रतीत होता है कि यह श्रृंगार रस से पूर्ण ऐसी रचना है जिसमें संयोग और वियोग दोनों का सुन्दर चित्रण हुआ है। इसमें श्रीकृष्ण जो उपपति हैं, गोपियाँ परकीया नायिकाएँ हैं, वंशी दूती है और वृन्दावन की एकांत भूमि एवं शारदीय रात्रि आदि उद्दीपन हैं किन्तु कवि इस रचना को साधारण शृङ्गार रस की रचना नहीं बताता प्रत्युत वह कहता है कि जो लोग नारियों को सामान्य नारियों की भांति देखते हैं, वे अन्धे हैं। मन्द मुस्कान और कटाक्ष आदि का रस क्या जानें? कवि कहता है कि जिस प्रकार विषयों से दूषित हुई इन्द्रियों द्वारा घट में स्थित अन्तर्यामी

ईश्वर को नहीं पहचाना जा सकता उसी प्रकार इस 'रासपंचाध्यायी' के महत्व को मलीन आत्माएँ नहीं समझ सकतीं। कवि की दृष्टि में गोपियाँ ही इसकी एक मात्र अधिकारिणी थीं—

नन्द अमृत को पन्थ, रंगीलो सून्छम भारी।
तिहिं ब्रजतिय भल चलैं, आन कोउ नहिं अधिकारी॥

क्योंकि—

ये हरि-रस ओपी गोपी सब तियनि तें न्यारी।
कवँल-नैन गोविन्द-चंद की प्रान पियारी॥

यही नहीं, प्रत्युत वे गोपियाँ निरमत्सर संतों की चूड़ामणि कही गयी हैं। श्रीकृष्ण जी के लिए कवि ने कहा है—

"परमात्मा परब्रह्म, सबन के अन्तरजामी।
नारायन भगवान, धरम करि सब के स्वामी॥"

श्रीकृष्ण की मुरली नादब्रह्म की जननि है, और सभी प्रकार के सुखों को देने वाली है। श्रीकृष्ण ने उसकी ध्वनि से ही निगमागम को प्रकट किया है, वृन्दावन चिद्घन है, भगवान श्रीकृष्ण की ललित लीला-स्थली के कारण ही वह जड़रूप हुआ है। कवि ने अंत में इस 'रासपंचाध्यायी' के विषय में कहा है—

"जु कोउ प्रीति सों गान करै, अति सुनै गुनै हिय।
प्रेम-भगति तेहिं देहिं, दया करि हरि नागर पिय॥"

इस प्रकार 'रासपंचाध्यायी' नित्य पारायण करने योग्य माधुर्य-भक्ति पूर्ण रचना ठहरती है। इसमें स्वामी वल्लभाचार्य द्वारा निर्णीत भक्तिपद्धति की पूरी छाप है। इस की कथावस्तु बहुत छोटी है इसलिए कवि ने रसात्मकता की पूर्ति के लिए विशद भाव-चित्र प्रस्तुत किये हैं और घटनास्थली वृन्दावन का वर्णन विस्तार के साथ किया है। नन्ददास की 'रासपञ्चाध्यायी' वस्तुतः एक माधुर्य एवं कलापूर्ण कृति है।

इसकी अनुप्रास युक्त सरस पदावली तो हमें संस्कृत कवि जयदेव के 'गीत गोविन्द' की 'कुञ्ज कुटीरे जमुना नीरे वसति बने वनमाली' आदि पंक्तियों का स्मरण दिला देती है।

भवँरगीत—यह नन्ददास जी का प्रसिद्धि-प्राप्त खण्ड-काव्य है। इसके कथानक का मूल आधार श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध में वर्णित 'भ्रमरगीत' का उपाख्यान और सूरदास जी का "भ्रमरगीत" है। नन्ददास जी ने सम्पूर्ण सामग्री का उपयोग कर उसे कलात्मक ढंग से प्रकट किया है। इनके वर्णन का क्रम इस प्रकार है—

उद्धव जी गोपियों के रूप, शील और गुण की प्रशंसा करते हुए कहते हैं कि मैं श्याम का एक संदेश कहने तुम्हारे पास आया था किन्तु कहने के लिए अभी तक उपयुक्त अवसर नहीं प्राप्त हो सका। मैं श्याम का यह संदेश तुम से कहकर मथुरा लौट जाना चाहता हूँ। श्याम का नाम सुनते ही गोपियाँ प्रेम के मारे विह्वल हो गयीं। इसके पश्चात् उन्होंने उद्धव जी को सुन्दर आसन पर बैठाया और उनकी पूजा, परिक्रमा और सेवा की। तत्पश्चात् वे उद्धव जी से श्रीकृष्ण का कुशल-क्षेम पूछने लगीं। उद्धव जी गोपियों के प्रश्न का उत्तर देते हुए कहते हैं कि हम तुम्हारी कुशलता जानने के लिए ही यहाँ आये हैं, तुम लोग अधीर न होओ श्रीकृष्ण जी शीघ्र ही तुम सब से मिलेंगे। अब गोपियों को श्रीकृष्ण की सुन्दर मुद्रा स्मरण आती है और रूपासक्ति के कारण उन्हें मूर्च्छा आ जाती है। गोपियों की यह दशा देखकर उद्धव जी जल का छींटा देकर उन्हें सचेत करते हैं फिर तो उद्धव और गोपियों का निर्गुण-सगुण तथा योग और प्रेम पर शास्त्रार्थ चल पड़ता है। दोनों एक दूसरे के पक्ष का खण्डन और अपने पक्ष का मण्डन बड़ी ही सावधानी से करते हैं। उद्धव जी से बहस

करते-करते गोपियों को अचानक फिर श्रीकृष्ण के स्वरूप का साक्षात्कार हो जाता है। जिससे वे मुँह फेर कर बैठ जाती हैं और श्रीकृष्ण के प्रति अनुनय-विनय करती हैं तथा उपालम्भ देने लगती हैं। गोपियों की इस प्रेम-दशा को देखकर उद्धव जी का 'नेम' भाग गया। अब वे अपने को अज्ञानांधकार के बीच पड़ा समझ कर बहुत लज्जित हो गये और मन ही मन कहने लगे—

मन में कह रज पाय कैं, लै माथे निज धारि।
हौं तो कृत कृत ह्वै रह्यौ, त्रिभुवन आनन्द वारि॥
वन्दना जोग ये॥

इसी समय कहीं से एक भ्रमर उड़ता हुआ आकर गोपियों के बीच मँडराने लगता है और गोपियाँ उसको लक्ष्यकर उद्धव को उपालम्भ देने लगती हैं, उपालम्भ देते समय वे यकायक रो पड़ती हैं। प्रेम का यह गम्भीरतम परिस्थिति देखकर उद्धव जी के संशयात्मक ज्ञान का विनाश हो जाता है और वे गोपियों के प्रेम की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए कहते हैं—

अब रहिहौं व्रज भूमि की, ह्वै मग-मारग धूरि।
बिचरत पद मो पै परे, सब सुख जीवन मूरि॥
मुनिन हूँ दुर्लभै॥
कै हौं ह्वै रहौं गुल्मलता बेली बन माँहीं।
आवत जात सुभाव, परै मो पै परछाँहीं॥

इसके पश्चात् उद्धव जी मथुरा को लौट जाते हैं और वहाँ पहुँचकर वे श्रीकृष्ण जी पर क्रोध प्रकट करते हैं—

करुनामयी रसिकता है तुम्हारी सब झूँठी,
जबहिं लौं नहिं लखौ, तबहिं लौ बाँधी मूठी।
मैं जान्यो व्रज जायकै तुम्हरो निर्दय रूप,
जे तुमको अवलम्बहीं तिनको मेलो कूप।
कौन यह धर्म है?

इसके पश्चात वे श्रीकृष्ण जी से सिफारिश करते हैं कि आप वृन्दावन जाकर गोपियों के बीच निवास कीजिए। उद्धव की वार्ता को सुनकर श्रीकृष्ण जी के नेत्र अश्रु-परिप्लुत हो गये। फिर वे कहने लगे—

मो मैं उनमैं अन्तरो, एकौ छिन भरि नाहिं।
ज्यौं देखौ मो माहिं वै, त्यौं मैं उन हीं माहि॥
तरङ्गनि बारि ज्यौं॥

इसके पश्चात् अपनी इस उक्ति को सत्य सिद्ध करने के लिए श्रीकृष्ण जी अपना गोपी रूप उद्धव को दिखाते हैं और उनके मोह को नष्ट कर देते हैं। यहीं पर इस प्रेम-रसवर्द्धिनी कथा की समाप्ति होती है।

ऊपर यह लिखा जा चुका है कि नन्ददास जी ने श्री मद्भागवत तथा सूरदास के 'भ्रमर गीत' से सामग्री ली है ऐसा करने में उनके 'भँवरगीत' और उपर्युक्त ग्रन्थों में जो विशेष अन्तर पड़ गया है, वह नीचे दिया जाता है सर्व प्रथम श्रीमद्भागवत से इस की तुलना की जा रही है।

१—श्रीमद्भागवत में भ्रमर का आगमन गोपी उद्धव के कुशल प्रश्न के अनन्तर ही हो जाता है जिससे गोपियाँ प्रारम्भ से ही उपालम्भ देने लगती हैं किन्तु नन्ददास के 'भवँरगीत' में उद्धव-गोपी शास्त्रार्थ तथा गोपी-विजय के पश्चात् भ्रमर का आगमन होता है जिससे गोपियाँ अपनी विरह-दशा के प्रदर्शन के लिये उपालम्भ करती हैं।

२—श्रीमद्भागवत में भ्रमर को उपालम्भ एक ही गोपी से दिलाया गया है जो समस्त गोपियों का प्रतिनिधित्व करती है किन्तु नन्ददास के 'भँवरगीत' में कई गोपियाँ पृथक-पृथक उपालम्भ देती हैं।

३—श्रीमद्भागवत में निर्गुण-सगुण की वैसी विशद व्याख्या

नहीं है जैसी नन्ददास के भवँरगीत में है। श्रीमद्भागवत में निर्गुण-सगुण का विषय सीधे ढंग से व्यक्त किये गये उपदेश के रूप में मिलता है किन्तु 'भवँरगीत' में यह विषय पाण्डित्य पूर्ण तर्क-वितर्क पर आधारित है।

श्रीमद्भागवत की भांति सूरदास जी के भ्रमर गीत से भी कुछ विशेष मौलिक अन्तर है—

सूरदास जी ने अपने 'भ्रमरगीत' का प्रारम्भ तीन प्रकार से किया है—१—उद्धव द्वारा कृष्ण-संदेश वर्णन से, २—कुब्जा के संदेश से, ३—उद्धव और गोपी संवाद से। नन्ददास जी ने तीसरे वर्णन को चुना है। इसकी शैली भी सूरदास जी की है, हाँ छन्द के अन्त में नन्ददास जी ने दस मात्राओं की जो टेक दी है वह उनकी अपनी है। नन्ददास जी ने सूरदास के वर्णन को देखकर ही कई गोपियों से पृथक-पृथक उपालम्भ दिलाये हैं। सूरदास जी का 'भ्रमरगीत' मुक्तक काव्य है किन्तु नन्ददास जी का 'भवँरगीत' खण्ड-काव्य है इसलिए गोपियों की मानसिक दशा का जितना अधिक और मनोहर वर्णन सूरदास जी के 'भ्रमरगीत' में मिलता है उतना नन्ददास के 'भवँरगीत' में नहीं मिलता। सूरदास जी के 'भ्रमरगीत' में गोपियों का विरह-समुद्र इतने जोरों से उमड़ा दिखायी पड़ता है कि उसे देखकर भयभीत हो उद्धव जी भाग खड़े होते हैं किन्तु नन्ददास के 'भवँरगीत' में दोनों ओर से खूब तर्क-वितर्क होता है तब कहीं जाकर उद्धव पराजित होते हैं। निष्कर्ष यह कि सूरदास की गोपियों का विरह और प्रेम हृदय की ओर से आता है किन्तु नन्ददास की गोपियों का प्रेम मस्तिष्क की ओर से आता है। उनके प्रेम पर बुद्धि की गहरी छाप लगी दिखायी देती है। सूरदास जी ने योगमार्गियों तथा ज्ञानमार्गियों की खासी चुटकी लेकर उनकी बोलती बन्द की है किन्तु

नन्ददास जी ने ऐसा न कर तर्क-वितर्क द्वारा उनको निरुत्तर किया है।

भाषा और शैली—नन्ददास जी ने अपनी समस्त रचनाओं में कोमल कान्त-पदावली का व्यवहार किया है जिस से उनमें माधुर्य और प्रसाद गुण प्रचुर परिमाण में मिलता है। इनकी भाषा भावों की अनुगामिनी, संगीतमयी, चित्रात्मक और सजीव है। इन्होंने स्थान-स्थान पर ब्रज के सुमधुर ठेठ शब्दों तथा कहावतों एवं मुहाविरों का सुन्दर प्रयोग किया है। शब्दानुप्रास की सुन्दर छटा छहराते हुए इन्होंने शब्दों को मरोड़कर कहीं भी विकृत नहीं किया है। अरबी-फारसी शब्दों का प्रयोग इनकी रचना में नहीं के बराबर है। इनकी वर्णन-शैली सरस, आकर्षक और संयत है। भाषा का जैसा अकृत्रिम और समधुर स्वरूप इनके काव्य में दृष्टिगत होता है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है।



२—श्री नन्ददास

—:o::o::o:—

रास पंचाध्यायी

रोला—यह मात्रिक छन्द है। इसमें ग्यारह और तेरह के विराम से चौबीस मात्राएँ होती हैं। अन्त में दो गुरु या दो लघु हों तो उत्तम रोला होता है।

१—शब्दार्थ—अविकारी—विकार रहित ; भ्राजै—सुशोभित होता है ; निसाकर—चन्द्रमा ; दिवाकर—सूर्य ; जानु—जाँघ ; मकरन्द—पराग।

भावार्थ—श्री नन्ददास जी कहते हैं कि मैं कल्याण करने वाले, दया के भण्डार श्री शुकदेव जी की वंदना करता हूँ जिनका स्वरूप विशुद्ध प्रकाशमय है और जो सदैव सुन्दर रहने वाले तथा निर्विकार हैं। श्री शुकदेव जी भगवल्लीला के आनन्द में मस्त होकर सदैव विश्व में भ्रमण करते रहते हैं। इनकी गति अद्भुत है। कहीं भी इनके लिये रोक नहीं। ये एक बार नग्न स्नान करती हुई स्त्रियों के रास्ते से भी चले गये थे। इनका किशोरावस्था-प्राप्त शरीर नील-कमल के समान सुन्दर है। इनके केश की टेढ़ी लटें मुख पर इस प्रकार फैली हुई हैं मानों कमल पर मँडराती हुई भ्रमर-पंक्तियाँ शोभा पा रही हों। इनका सुन्दर विशाल मस्तक इस प्रकार प्रकाश कर रहा है मानों चन्द्रमा की किरणें चमक रही हों। ये कृष्ण-भक्ति पर पड़ी हुई अज्ञानान्धकार की छाया निवारण करने के लिए करोड़ों

सूर्य के समान हैं। कृपा और प्रेम-रस के भण्डार इनके नेत्र इस प्रकार ललाई लिए हुए हैं मानों ये कृष्ण के रसामृत का पान करके कुछ अलसाये और उनींदे हों। इनके कान श्रीकृष्ण-लीला-रस के भण्डार हैं। इनका गण्डस्थल बहुत भला दिखाई देता है। इनकी मधुर-मुस्कान मधुवर्षिणी है इसी से भक्त-भौंरे प्रेमानन्द की प्राप्ति करते हैं। इनकी नासिका ऊँची उठी हुई है और इनके बिम्बाफल के सदृश्य ओष्ठ तोते की चोंच की शोभा को फीका करने वाले हैं। नासिका और ओष्ठ के मध्य में उठती हुई अस्पष्ट मूँछें (काली रेखाएँ) अद्भुत शोभा दे रही हैं। इनके शंख जैसे कंठ की रेखाओं को देखकर भगवान् धर्म को प्रकाशित करते हैं जिसके तेज को देखते ही काम, क्रोध, मद, लोभ और मोह नष्ट हो जाते हैं। इनके अत्यन्त सुन्दर उस वक्षस्थल की शोभा नहीं कही जा सकती जिसमें श्रीकृष्ण की सुन्दर मूर्ति सदैव जगमगाती रहती है। पेट के मध्य में लगी हुई सुन्दर रोम-पंक्ति इस प्रकार शोभा दे रही है मानों रस की पनारी हृदय रूपी सरोवर से उमड़कर बह रही हो। इनकी गहरी नाभि रस की कुण्डिका के समान प्रतीत हो रही है जिस में त्रिबली की रेखाएँ सुन्दर लहरों की भाँति उठती हुई दिखाई दे रही हैं। सुगठित शरीर के मध्य में इनका सुन्दर कटि-प्रदेश सिंह की कमर की भांति सुशोभित हो रहा है। इनका यौवन-मद सब को आकृष्ट करता है और सब पर प्रेमामृत की वृष्टि करता है। इनकी जाँघें सुदृढ़ हैं ये आजानुबाहु हैं, इनकी चाल मदमस्त हाथी की तरह है। ये गंगा आदि नदियों को पवित्र करने के लिए पृथ्वी पर विचरण करते हैं। इनके चरण कमल की भांति सुन्दर हैं जिसके मधुर पराग का पान करने के लिए मुनियों के मन रूपी भौंरे लालायित रहते हैं। जब सूर्य के समान तेजस्वी भगवान् श्रीकृष्ण परमधाम को चले गए तो सारे

संसार में अज्ञान का अन्धकार घुमड़कर छा गया। इस समय संसार के सभी प्राणियों को अज्ञानांधकार से ग्रसित देखकर दयालु श्री शुकदेव जी ने श्रीमद्भागवत रूपी सूर्य का अद्भुत प्रभाव प्रकट किया। जो संसार के अज्ञानान्धकार रूपी घर में छिपे जा रहे थे उनके हितार्थ कृपालु श्री शुकदेव जी ने एक अद्भुत दीपक प्रकट कर दिया। इसका नाम "श्रीमद्भागवत" है। यह बहुत ही मनोहर, सुन्दर बुद्धि देने वाला, अत्यन्त सरल तथा वेदों का सार-रूप है। यह बिना गुरु की कृपा के अत्यन्त अगम है। इस 'श्रीमद्भागवत' में मणियों के सदृश्य प्रकाशमय तथा अत्यन्त रहस्य से पूर्ण 'रासपंचाध्यायी' है। श्री शुकदेव जी ने कहा है कि जिस प्रकार शरीर में पंचप्राण की स्थिति है उसी प्रकार 'श्रीमद्भागवत' में 'पंचाध्यायी' की स्थिति है। अपने परम-प्रेमी एक मित्र ने मुझे आज्ञा दी जिसको शिरोधार्य कर मैंने अपनी बुद्धि के अनुसार इसे (लोक-प्रचलित) भाषा में लिखा।

टिप्पणी—नन्ददास जी ने उपर्युक्त छन्दों में पहले भागवत के वक्ता श्री शुकदेव मुनि की वन्दना की है और उनके वेष का वर्णन उपमा, उत्प्रेक्षा और रूपक के सहारे किया है। तदनन्तर उन्होंने 'रासपंचाध्यायी' के लिखने का कारण बताया है।

२—शब्दार्थ—उड़राज—चन्द्रमा ; व्याप रही—छिटक रही ; मनसिज—कामदेव ; विहंगम—पक्षी।

भावार्थ—उस समय रस-रास के सहायक चन्द्रमा उदित होकर इस प्रकार शोभा पाने लगे मानों श्रीकृष्ण की परमप्रिया राधिका जी का मुख कुंकुम से विभूषित होकर शोभा पा रहा हो। इस समय चन्द्रमा की कोमल और अरुण किरणें वन में इस प्रकार व्याप्त होने लगीं मानों कामदेव चारों ओर

घूम घूमकर गुलाल से फाग खेल रहे हों। स्फटिक पत्थर के सदृश्य शुभ्र किरणें कुंजों के छेदों के बीच में होकर जब पृथ्वी पर पड़ने लगीं तो ऐसी शोभा हुई मानों कामदेव ने सुन्दर मण्डप (शामियाना) तना दिया हो। चन्द्रमा की धीमी-धीमी चाल सुन्दर शोभा से युक्त होकर भगवान विष्णु के कौतुक के समान झलक रही थी इसके पश्चात् श्रीकृष्ण जी ने अनहोनी को होनी करने में चतुर तथा योगमाया के सदृश्य प्रभावशालिनी मुरली को अपने कर-कमलों में लिया और फिर उसे अपने अधरों से मिलाया। जिसकी ध्वनि से श्रीकृष्ण जी ने वेद और शास्त्र प्रकट किया है तथा जो नाद-ब्रह्म की प्राण-स्वरूपा, मोहिनी और सब के लिए सुख-सागर है ऐसी मुरली ने मोहन के ओंठों से पुनः मिलकर कुछ इस प्रकार का सुन्दर गायन किया जिससे बाँकी भौंह रखने वाली स्त्रियों का मनहरण हो जाय। श्रीकृष्ण के इस मुरली-नाद को सभी ने सुना। भगवान श्रीकृष्ण के प्रति जिसकी जैसी भावना थी उसी के अनुसार मुरली ने उनका संस्पर्श किया। जिस प्रकार सूर्य की किरणें सूर्य-कान्तमणि और सभी पत्थरों पर एक साथ पड़ती हैं किन्तु उसकी अग्नि (धूप) का प्रभाव केवल सूर्यकान्तमणि पर ही पड़ता है ठीक इसी प्रकार मुरली का शब्द सुना तो सब ने, किन्तु उसका प्रभाव गोपियों के ऊपर ही विशेष रूप से पड़ा। जिधर से श्रीकृष्ण के गीत और उनकी वंशी की ध्वनि सुनाई पड़ रही थी, व्रज की स्त्रियाँ उधर ही चल पड़ीं। वे घर की दीवारों, पेड़ों और करील-कुंजों में कहीं भी नहीं अटकीं। वंशी के नाद रूपी अमृत का पंथ अत्यन्त सुन्दर, सूक्ष्म और गम्भीर है। इस रास्ते पर केवल व्रज-वनिताएँ ही चल सकती हैं, अन्य कोई इसका अधिकारी नहीं है। वे गोपियाँ शुद्ध प्रेम-रूपिणी हैं और इनका स्थान पंच-तत्व द्वारा बने हुए प्राणियों से

भिन्न है। इनके सम्बन्ध में कोई क्या कह सकता है क्योंकि यह तो ज्योति के समान जगत में प्रकाश करने वाली हैं। शरीरधारी होने के कारण जिन गोपियों को दैवयोग से घर में ही रह जाना पड़ा वे (वियोग-जन्य दुख से) अत्यन्त व्याकुल हो गयीं। वे पुण्य और पाप के प्रारब्ध स्वरूप रचे गये अपने शरीर में कृष्ण के प्रेमामृत को पचा न सकीं। जिन गोपियों को श्रीकृष्ण जी के वियोग का परम दुसह दुख सहना पड़ा, उनको एक क्षण करोड़ों वर्ष के नरक भोगने के समान प्रतीत हुआ। जब लोहे का पात्र पारस पत्थर के स्पर्श से सुवर्ण का पात्र बन जाता है तो श्रीकृष्ण से इतना घनिष्ट प्रेम होने में आश्चर्य ही क्या है? वे सुन्दरियाँ फिर घर के काम-काज को छोड़कर वंशी-ध्वनि के मार्ग को पकड़कर चलीं मानों नवप्रेमरूपी-पक्षी पिंजड़ों से छूट कर उड़ चले हों।

३—**शब्दार्थ**—सरल है।

भावार्थ—गोपियाँ प्राणनाथ श्रीकृष्ण को कुंजों में ढूंढ़ने लगीं किन्तु उन दीनदयालु का कहीं पता नहीं लगा। इसलिए सभी व्रज-बालाएँ बहुत व्याकुल हो गयीं।

शब्दार्थ—विरहाकुल—विरह से व्याकुल; नवनीत—मक्खन; बिथा—दुख।

भावार्थ—विरही व्यक्ति को इस बात का ज्ञान नहीं रहता कि कौन जड़ है और कौन चैतन्य है? इसलिए विरहिणी गोपियाँ भी श्रीकृष्ण के विरह से व्याकुल होकर उनका पता लताओं और वृक्षों से पूछने लगीं। वे कहती हैं कि हे मालती, हे जूही, हे यूथिके! तुम ध्यान देकर हमारी बात सुनो। क्या हमारे मान और मन को हरने वाले श्रीकृष्ण जी को तुम सबों ने

देखा है ? हे केतकी ! क्या यहाँ से हमारे रूठे हुए प्रियतम (श्रीकृष्ण) को तूने कहीं जाते हुए देखा है ? तुम चुप क्यों हो बताओ, नन्दलाल ने अपनी मन्द-मुस्कान से कहीं तुम्हारा भी मन तो नहीं चुरा लिया ? हे मुक्ताफल ! तुम अपनी बेलि में बहुत से मुक्ताफल छिपाये हुए हो। क्या तुमने विशाल-नेत्र वाले मन-मोहन श्रीकृष्ण को इधर कहीं देखा है ? हे उदार मंदार ! हे वीर करवीर ! क्या तुम ने धैर्यवानों के मन को हरने वाले और मन्द-मन्द चलने वाले श्रीकृष्ण को इधर जाते हुए देखा है ? हे चन्दन ! तुम सब के दुख-द्वन्द को नष्ट करने वाले हो इसलिए हम सब की जलन शान्त करो। तुम हमें विश्ववंद्य श्रीकृष्ण का पता बता दो। इतने में ही कोई गोपिका अपनी सहेलियों से कहती है कि हे सखियो ! इनलता-पुष्पों से तो पूछो जो पुष्पित हो रही हैं। अवश्य ही इनका स्पर्श प्यारे ने किया होगा क्योंकि उनके स्पर्श किये बिना ऐसा सुन्दर फूल होना कठिन है। हे सखियो ! इन हरिणियों के पीछे-पीछे जाकर इनसे क्यों नहीं श्रीकृष्ण का पता पूछ लेतीं ? जान पड़ता है कि इन्होंने अभी ही कहीं पर श्रीकृष्ण को देखा है इसी से इनकी आँखें आनन्दित हैं। ऐ वन की सुन्दर सुगन्धि ! तू वायु के साथ धीरे-धीरे चल रही है, मैं तुझ पर बलिहार हूँ। बता, क्या सुखनिधान, दुख-विनाशक श्रीकृष्ण को इधर तूने कहीं देखा है ? हे चम्पा ! हे कुसुम्भ ! तुम्हारी शोभा सब से सुन्दर है, तुम हमें (उस स्थल का पता) जरा बता दो जहाँ पर कुञ्जविहारी श्रीकृष्ण हैं ? हे कदंब ! हे निम्ब ! हे आम ! तुम सब मौन क्यों हो ? हे वट वृक्ष ! तुम यहाँ श्रेष्ठ हो, क्या तुमने इधर-उधर कहीं पर श्रीकृष्ण की खोज पायी है ? हे शोकहर अशोक ! तुम त्रिभुवन शिरोमणि श्रीकृष्ण को हमें बता दो। हे सुन्दर और रसीले कटहल ! हम मरती हुई स्त्रियों को अमृत पिला दो। इसी प्रकार यमुना किनारे स्थित

वृक्षों से पूछकर गोपियाँ अत्यन्त उदास हो गयीं। वे कहने लगीं कि हे सखी, तीर्थवासी ये वृक्ष बड़े कठोर स्वभाव के हैं। ये भला क्योंकर श्रीकृष्ण का पता बतायेंगे ! हे जमुना ! यदि तुम उस जल को जो सारे विश्व का उद्धार करने वाला है, प्रकट रूप में बह रही हो तो फिर जानबूझकर हमें श्रीकृष्ण का पता न बताने में क्यों हठ करती हो ? हे पृथ्वी ! बताओ क्या तुमने हमारे चित्त को चुराने वाले माखनचोर प्राणप्यारे को कहीं पर छिपा तो नहीं रक्खा है ? श्रीकृष्ण के चरणों में प्रेम रखने वाली तथा सब का कल्याण करने वाली हे तुलसी ! तुम हमारी व्यथा श्रीकृष्ण से क्यों नहीं कह देतीं ? वन में बहुत अँधियारे कुंजों और सघन तथा दुर्गम वृक्षों के बीच गोपियाँ अपने मुख-चन्द्र के प्रकाश से घूम रही थीं। इस प्रकार घने वन में खोजकर और उन्मत्त की भांति सब से श्रीकृष्ण का पता पूछकर गोपियाँ मन को प्यारी लगने वाली प्यारे श्रीकृष्ण की मनोहर लीला करने लगीं। नन्ददास जी कहते हैं कि परम रसिक श्रीकृष्ण की लीला करना इन गोपियों को ही शोभा देता है। लीला करते समय ये श्रीकृष्ण के प्रेम में इतनी तन्मय हो गयीं कि इन्हें जरा भी पता नहीं रहा कि हम कौन हैं और क्या कर रही हैं ?

टिप्पणी—इसमें विरहिणी गोपियों की प्रलाप-दशा का मार्मिक चित्र खींचा गया है और प्रकृति वर्णन उद्दीपन विभाव के रूप में किया गया है।

४—शब्दार्थ—सरल है।

भावार्थ—अनेक योगेश्वर जो अपने हृदय में प्रभु का ध्यान करते हैं, उन्हें भगवान् एक ही बार दर्शन का आनन्द देते हैं। योगी जन बन में जाकर करोड़ों जन्म तक तपस्या करते हैं और

अनेक प्रकार के आसन अपने हृदय में लगाकर उसे अत्यन्त शुद्ध रखते हैं ऐसे स्वच्छ स्थान का भी नवल-नागर भगवान श्रीकृष्ण कुछ क्षण के लिए परित्याग कर देते हैं किन्तु वे गोपियों के चीर पर बड़े प्रेम से बैठते हैं। यद्यपि करोड़ों ब्रह्मांड में सर्वत्र श्रीकृष्ण का एकाधिपत्य है (वे अकेले ही सर्वत्र शोभा पाते हैं) किन्तु व्रजांगनाओं के बीच में उनकी जितनी शोभा होती है, अन्यत्र कहीं नहीं होती। व्रज की सुन्दरियों के बीच में श्रीकृष्ण जी की वैसी शोभा होती है जैसी कमल के मध्य में कमल-कर्णिका सुशोभित होती है।

टिप्पणी—त्रिलोकाधिपति श्रीकृष्ण को गोपियों के चीर पर बैठाकर कवि ने जो आश्चर्य प्रकट किया है, वह अत्यन्त सुन्दर है। इसमें उपमा अलङ्कार है।

५—शब्दार्थ—सरल है।

भावार्थ—तब व्रजराज श्रीकृष्ण जी गोपियों से कहने लगे कि हम तुम्हारे ऋणी हैं। तुम सब अपने मन से मेरा दोष क्यों नहीं दूर कर देतीं। यदि हम करोड़ों कल्प तक तुम्हारा प्रत्युपकार करें तो भी हमारे मन को हरण करने वाली हे तरुणियो! तुम सब से हम ऋण-मुक्त नहीं होंगे। मेरी माया सम्पूर्ण विश्व को अपने वश में करके सुशोभित है किंतु वह माया तुम्हारी इस प्रेममयी माया का संसर्ग पाकर मुझे भी मोहित करती है। हे नवयुवतियो! सुनो। तुम ने जो कुछ भी किया है उसे कोई नहीं कर सकता है। मेरे लिए तुम सब ने लोक और वेद की मर्यादा-रूपी सुदृढ़ जंजीर को भी तिनके के समान तोड़ डाला है। (इससे बढ़कर और त्याग क्या हो सकता है?)

६—शब्दार्थ—मधि—मध्य; रली—मिली; अभिनय—स्वाँग।

भावार्थ—सभी व्रज-वनिताओं के मध्य में श्रीकृष्ण

जी इस प्रकार शोभा पा रहे थे जिस प्रकार रत्नों की पंक्ति में नील मणि शोभा पाती है। श्रीकृष्ण जी नयी मरकत मणि के सदृश्य थे और गोपियाँ सुवर्णमाला के सदृश्य थीं इसलिए श्रीकृष्ण के साथ में गोपियों का समूह ऐसा प्रतीत होता था मानों किसी ने प्रसन्न होकर वृन्दावन को सुवर्ण की माला पहनाई हो। नूपुर कंकन, किंकिनि, करताल, सुन्दर मुरली, ताल, मृदंग, उपंग और चंग आदि सभी एक स्वर में मिल गए। इसमें फिर ताल की कोमल मधुर टंकार तथा वीणाके तार की मधुर झनकार और भ्रमरों की मधुर गुंजार आदि की ध्वनि भी जा मिली। बाजे की गति की भाँति पैरों का पटकना और हाथ की तालियों का एक साथ बजना भी जारी था। इस अवस्था में कुण्डलों और हारों की लटकनि, मटकनि और झलकनि बड़ी सुन्दर लगती थी। अपने साँवरे प्रियतम के संग में ब्रज की युवतियाँ इस प्रकार सुन्दर नृत्य कर रही थीं मानों मेघ-मंडल के मध्य में सुन्दर बिजलियाँ खेल रही हों। छबीली गोपिकाओं के पीछे हिलती हुई उनकी वेणी ऐसी लगती थी मानो (वायु के प्रसंग से) चंचल लताओं के साथ-साथ भ्रमरों का समूह शोभा पा रहा हो। नन्ददास जी कहते हैं कि प्यारे मोहन की मुस्कानि, उनके मोर-मुकुट की ढलकनि तथा पीताम्बर की फहरानि मेरे मन में सदा बसी रहे। प्यारे कृष्ण के मुख-कमल पर पड़ी हुई पसीने की बूँदें, छुटी हुई अलकें और मोर-मुकुट की सुन्दर ढलकनि मेरे हृदय में सदा वास करे। कोई छबीली गोपिका प्यारे का हाथ पकड़ कर इस प्रकार नृत्य करती है मानों नट को वशीभूत हुआ और अपने पीछे फिरता हुआ देख नटी मुग्ध होकर नाच रही हो। कोई गोपी श्रीकृष्ण की सुन्दरता से विमोहित होकर उन्हीं का सा स्वाँग करती है, उनके भेद-भाव अर्थात् भाव-भंगी को प्रकट करती है तथा उनके यश का गान करती है।

टिप्पणी—इसमें महारास का चित्र और बाजों तथा आभूषणों आदि की ध्वनि का मेल दिखाने में कवि ने कमाल किया है। लटकनि, मटकनि, झलकनि में वृत्यनुप्रास की बहार देखते ही बनती है और 'छांचलि तियनि के पाछें आछें बिलुलित बेनी' की उत्प्रेक्षा तो मन को मुग्ध कर देती है। इन रोलों में कवि ने सुकुमार शब्दों का सुन्दरता के साथ प्रयोग कर माधुर्य गुण को आश्रय दिया है।

७-शब्दार्थ—स्रमित—थकी हुई।

भावार्थ—प्यारे के मोर-मुकुट की लटकनि तथा उसकी मटक-मटक कर मुरली बजाने की क्रिया देखकर ऐसा लगता था मानों आनन्द से उन्मत्त होकर सुन्दर मोर कुहुक-कुहुक कर नाच रहा हो। श्रीकृष्ण जी अत्यन्त आनन्दित होकर अपने शिर में लगे हुए सुन्दर पुष्प गिरा देते हैं, उनका गिरना ऐसा शोभा देता है मानों चरणों की चाल वा थिरकन पर प्रसन्न होकर अलक उसकी पुष्पों से पूजा कर रही हो। श्रीकृष्ण जी के शरीर में स्वेद के जो सुन्दर बिन्दु पड़ गये हैं वे रंगीन होकर अत्यन्त शोभा दे रहे हैं जिन के हृदय में प्रेम और भक्ति का बिरवा है, वे इस श्रमबिन्दु को देखकर पुलकित हो जाते हैं। इस समय वृन्दावन की शीतल, मंद और सुगंधि युक्त वायु पंखे की भाँति डोल रही है। वह जहाँ-जहाँ जिस-जिसको थकी हुई देखती है वहीं रसपूर्ण होकर डोल जाती है (और श्रम को हर लेती है।) रास-मण्डल गोपियों के लाल वस्त्रों से विभूषित होकर ऐसी छवि दे रहा है जैसी प्रेमजाल में उलझी हुई आँख की पुतलियाँ छवि देती हों। उस समय अँधियारे कुंज में जहाँ पर पुष्प खिले हुए

थे, पराग के लोभ से भौंरे वहाँ तक पहुँचकर लटके हुए दिखाई पड़ते थे।

टिप्पणी—इसमें सुन्दर उत्प्रेक्षाओं से प्रायः सभी रोलें सुसज्जित हैं। वर्णन अनूठा है।

८–शब्दार्थ—सरल है।

भावार्थ—गोपियों के शरीर में लिपटे हुए भीगे वस्त्रों की इतनी सुन्दर शोभा है कि उसका वर्णन नहीं किया जा सकता क्योंकि नेत्रों के पास कहने की शक्ति नहीं है और वाणी के पास देखने की शक्ति नहीं है। श्रीकृष्ण की यह नित्य रास-क्रीड़ा नित्य रहने वाले वेद नित्य गायें तो भी उसकी नवीनता का वर्णन कर जाना उनके लिए कठिन ही है। इस अद्भुत रस-रास की महा-शोभा का वर्णन मुझसे कहते नहीं बनता। इसे मनीषी शेष भगवान् अपने सहस्र मुखों से वर्णन करें तो भी इसको आदि से अंत तक न कह सकेंगे। शंकर जी इस कथा का रहस्य जानकर इसका मन ही मन स्मरण करते हैं। वे इसको किसी से प्रकट नहीं करते। यह कथा सनकादि ऋषि, नारद और सरस्वती को बहुत प्रिय है।

९–शब्दार्थ—सरल है।

भावार्थ—नंददास जी कहते हैं कि मैं ने इस उज्ज्वल कथा-रस की माला को करोड़ों यत्न करके पोहा है, इसलिए हे सज्जन वृन्द ! इसे सावधानी से हृदय में धारण करो, तोड़ो मत यह श्रवण, कीर्तन, स्मरण और ध्यान का सार तो है ही, इसमें ज्ञान का सार, प्रभु के ध्यान का सार तथा वेद का सार भी गूँथा गया है। समस्त पापों का नाश करने वाली, मनोहर लगने वाली, दिव्य आनन्द को देने वाली तथा सब प्रकार से मंगल करने वाली 'रासपंचाध्यायी' की यह कथा मेरे हृदय में निवास करे।

भवँरगीत

—:o:o::o::o:o—

१—शब्दार्थ—प्रेम धुजा—प्रेम की ध्वजा; रसरूपिनी—आनंद की साक्षात् मूर्ति।

भावार्थ—श्रीकृष्ण के सखा उद्धव जी गोपियों से कहते हैं कि वृन्दाबन के नवीन कुंजों में श्यामसुन्दर के साथ विहार करने वाली, आनन्द समूह की सृष्टि करने वाली, रस-स्वरूपिणी, प्रेम की ध्वजा, रूप, शील और सौन्दर्यादि गुणों से सम्पन्न हे गोपियो! मेरा (उद्धव का) उपदेश सुनो।

२—शब्दार्थ—मधुपुरी—मथुरा।

भावार्थ—उद्धव जी कहते हैं कि हे ब्रज युवतियो! सुनो। तुम लोगों से श्याम का एक संदेश कहने के लिए मैं ब्रज में आया था किन्तु कहीं एकान्त में कहने का अवसर नहीं प्राप्त हो सका। मैं अपने मन में सोच ही रहा था कि कब एकान्त में तुम लोगों से मिलूँ और श्रीकृष्ण का सन्देश सुनाकर मथुरा वापस लौट जाऊँ।

३—शब्दार्थ—सरल है।

विशेष—नन्ददास कृत 'भवँरगीत' में 'बहुरि मधुपुरी जाउँ' के आगे १६ छन्द और दिये गये हैं। सङ्कलनकर्त्ता ने इन छन्दों का सङ्कलन विस्तार-भय से नहीं किया है, यद्यपि ऐसा करने से कथा-शृङ्खला टूट सी गयी है। प्रस्तुत छन्द के पहले गोपियों ने यह कहा है—

जोगी जोतिहिं भजैं भक्त निज रूपहिं जानैं,
प्रेम-पियूषै प्रगट स्याम सुन्दर उर आनैं।

निर्गुन गुन जो पाइये लोग कहैं यह नाहिं,
घर आयो नाग न पूजहीं बाँबी पूजन जाहिं।
सखा सुनु स्याम के।

अब इसका उत्तर उद्धव जी यों देते हैं—

भावार्थ—हे व्रज युवतियो! सुनो। तुम जो ब्रह्म को सगुण बता रही हो, यदि यह वस्तुतः सत्य है तो फिर बताओ वेद ब्रह्म को 'नेति नेति' क्यों कहते हैं? (सिद्धान्त की बात तो यह है कि) निर्गुण ब्रह्म ही आत्मा को सगुण रूप देता है और उसे सुख से सम्पन्न बनाता है। तुम जो कहती हो कि केवल सगुण में ही गुण का आविर्भाव होता है और निर्गुण में गुण का आविर्भाव नहीं होता, यह निराधार है। समस्त वेदों और पुराणों में खोजने पर भी कहीं इसका उल्लेख नहीं मिलता है।

टिप्पणी—निर्गुण ब्रह्म जब नाम और रूप उपाधियों को स्वीकार कर सगुण स्वरूप धारण करता है, तो एकदेशीय होने के कारण उसकी अनन्तता समाप्त हो जाती है। इसी सिद्धान्त को लेकर उद्धव जी ने तर्क किया है।

४—शब्दार्थ—सरल है।

सन्दर्भ—गोपियाँ उद्धव जी के तर्क का उत्तर देती हैं—

भावार्थ—हे श्याम के सखा उद्धव जी! सुनिये यदि ब्रह्म निर्गुण है तो सगुण ब्रह्म श्रीकृष्ण में जो इतने गुण दिखाई देते हैं, कहाँ से आये? बताइए, क्या बिना बीज के वृक्ष उग सकता है? हम जिन गुणों को देख रही हैं वह तो माया रूपी दर्पण में पड़े हुए भगवदीय दिव्य गुणों की छाया मात्र है। यह भगवदीय दिव्य-गुण मायात्मक त्रिगुण से उसी प्रकार अलग रहता है जैसे कीचड़ के संसर्ग में पड़ा हुआ स्वच्छ जल उससे (कीचड़ से) अलग रहता है।

टिप्पणी—इस पद में निर्गुण ब्रह्म का खण्डन और सगुण ब्रह्म का मण्डन किया गया है। 'बीज बिना तरु जमै' वाली उक्ति तो एकदम अकाट्य है।

५-शब्दार्थ—तरनि—सूर्य ; गहि —यह शब्द अशुद्ध छपा हुआ है। मेहरोत्रा द्वारा सम्पादित 'भवँरगीत' में 'नाहिं' शब्द मिलता है जो ठीक जान पड़ता है—

सन्दर्भ—जब गोपियाँ उद्धव से यह कहती हैं—

कर्म मध्य ढूँढ़ै सबै किनहु न पायो देख,
कर्म रहित हो पाइए तातैं प्रेम बिसेख।
सखा सुनु स्याम के।

तो उद्धव जी इसका उत्तर देते हैं—

भावार्थ—हे गोपियो ! सुनो। नाम और रूप से ही प्रेम किया जाता है किन्तु नाम और रूप के बिना, बताओ प्रेमी कैसे अनुराग कर सकता है ? मनुष्य अनन्तकाल से सूर्य और चन्द्रमा को देखता आ रहा है फिर भी उनका गुण जब अभी तक वह नहीं जान सका है तो गुणातीत भगवान को वह कैसे जान सकता है ?

६-शब्दार्थ—सरल है।

सन्दर्भ—गोपियाँ उद्धव के तर्क का उत्तर देती हैं—

भावार्थ—उद्धव जी ! आकाश में तेजस्वी सूर्य का जो प्रकाश अंतर्हित है, वह दिव्य-दृष्टि प्राप्त किये बिना भला कैसे दिखायी पड़ सकता है। जिनके पास दिव्य-दृष्टि नहीं है, वे (प्रभु या सूर्य) के वास्तविक रूप को कैसे देख सकते हैं ? जो

लोग कर्म के जाल में उलझे हुए हैं, उन में प्रेम की सच्ची भावना का उदय कैसे हो सकता है ?

७-शब्दार्थ—सरल है।

सन्दर्भ—जब गोपियाँ उद्धव जी से यह कहती हैं कि निर्गुण की बात तो अब अतीत की हो गयी और वर्तमान समय में सगुण ही हमें सर्वत्र दिखायी दे रहा है तो उद्धव जी कहते हैं—

भावार्थ तुम्हारी दृष्टि में मायात्मक त्रिगुण के बीच ईश्वर के जितने रूप दिखायी पड़ रहे हैं इन सब से अच्युत वासुदेव भगवान् परे हैं। अधोक्षज भगवान् की दिव्य-ज्योति तक साधारण इंद्रिय व दृष्टि की पहुँच नहीं हो सकती। इसे तो सारूप्य मुक्ति प्राप्ति करने वाला विशुद्ध योगी ही जान सकता है और वही ब्रह्म-ज्योति का साक्षातकार कर अपनी तृप्ति कर सकता है।

८-शब्दार्थ—सरल है।

भावार्थ—गोपियाँ कहती हैं कि उद्धव जी ! जो लोग नास्तिक हैं वे भगवान के प्रेममय स्वरूप को क्या जान सकते हैं। वे तो प्रत्यक्ष सूर्य को छोड़कर धूप की शरण ग्रहण करते हैं। हमें तो भगवान के प्रेममय स्वरूप के अतिरिक्त और कुछ भी अच्छा नहीं लगता। उसको प्राप्त कर लेने पर करोड़ों ब्रह्म की झलक हमें करतल गत दिखायी देती है।

९-शब्दार्थ—सरल है।

भावार्थ—इसी समय एक भ्रमर कहीं से उड़ता हुआ आया और गोपियों के बीच गुञ्जार करता हुआ शोभा पाने लगा। वह अरुण-कमल के भ्रम से गोपियों के पैरों पर बैठना

चाहता था। उसको देखकर ऐसा प्रतीत होता था मानों स्वयं उद्धव जी (गोपियों की चरण-धूलि लेने के लिए) भौंरे का रूप धारण कर प्रकट हो गये हों।

१०—शब्दार्थ—सरल है।

भावार्थ—इसी भ्रमर को लक्ष्य करके समस्त गोपियाँ प्रेम-रस में सनी हुई और तर्क-वितर्क से युक्त अपनी बातों को प्रत्युत्तर स्वरूप इस प्रकार कहने लगीं। ऐ भ्रमर ! तू मेरे पैरों का स्पर्श मत कर। हम सब तुम्हें चोर मानती हैं क्योंकि तुम्हारी तरह वेष-भूषा धारण करने वाले नन्दकिशोर श्रीकृष्ण चोर थे। जा, तू यहाँ से दूर हो जा।

११—शब्दार्थ—सरल है।

भावार्थ—कोई गोपिका कहती है कि हे सखी ! इस भ्रमर ने उन्हीं (श्रीकृष्ण) का वेष धारण किया है, साँवरे श्रीकृष्ण जी पीताम्बर धारण कर जिस छवि को प्राप्त होते थे यह श्याम और पीत वर्ण का भौंरा उसी छवि को प्राप्त है। उनकी वाणी और किंकिनी की झनकार के सदृश्य इसकी गुंजार है। यह मथुरा से मक्खन चुराकर फिर ब्रज को भाग आया है। हे सखियो ! इस पर विश्वास न करना क्योंकि इसका रूप कपटी का-सा है। सावधान रहना, कोई वस्तु इस चोर द्वारा चोरी न चली जाय।

टिप्पणी—'चोरि जनि जाय कछु' इस पद का सर्वस्व है। देखिए, इसकी व्यंजना कितनी अनूठी है।

१२—शब्दार्थ—कुसुम—फूल ; मतिमंद—मूर्ख ; दुविध ज्ञान—संशयात्मक ज्ञान।

भावार्थ—कोई गोपी कहने लगी रे भौंरे ! तू रस की

बातों को क्या जाने ? तू बहुत से पुष्पों पर बैठकर उनका रस लेता है और उन्हें अपने समान जानता है। ऐ मूर्ख ! क्या तू अपने समान हम लोगों को भी बनाना चाहता है ? प्रेमानन्द से छकी हुई हम गोपियों को अपनी कपट भरी बातों में उलझा-कर और संशयात्मक ज्ञान भर कर क्या तू दुखित करना चाहता है ?

टिप्पणी—इस में प्रथम दो पंक्तियाँ भौंरे पर घटित होती हैं और शेष में उद्धव पर आक्षेप है।

१३—शब्दार्थ—घात—चोट करना, मारना।

भावार्थ—कोई गोपी कहती है कि रे भौंरे ! तुझे मधुकर कौन कह सकता है क्योंकि तू तो अपने मुख में योग की गाँठ लिये फिरता है (भाव यह कि अपने मुख से योग का उपदेश करता है) और बेकारी का समय व्यतीत कर रहा है। जान पड़ता है तू ने बहुतों का रक्त चूसा है, इसी से तेरे ओंठ लाल हैं। तुम व्रज में किस अभिप्राय से आये हो, बताओ अब किसका निशाना करोगे ? ऐ पापी ! तू यहाँ से चला क्यों नहीं जाता।

टिप्पणी—कितनी करारी फटकार है !

१४—शब्दार्थ—षटपद—भ्रमर ; आनन—मुख ; गात—शरीर।

भावार्थ—कोई गोपी कहती है कि ऐ भ्रमर ! मैंने तुझमें ही प्रेम देखा है। सचमुच अब तक इस व्रज में कोई ऐसा प्रेमी नहीं हुआ है जो तुम्हारे समान प्रेम की विशेषता रखता हो। तेरा शरीर काला और पीला है तथा तेरे मुख के ऊपर दो सींग हैं। तू दुष्टों को अमृत के समान मानता है, और अमृत को देखकर डरता है। तेरी यह रसिकता एकदम झूठी है।

१५-शब्दार्थ—सरल है।

भावार्थ—कोई गोपी कहती है कि ऐ भौंरे! तू उल्टा ज्ञान लेकर आया है। जो आत्माएँ जीवन मुक्त हो रही थीं उन्हें तूने फिर कर्म करने का उपदेश दिया है। वेद और उपनिषदों के सार-स्वरूप श्रीकृष्ण के गुणों का गान करना जिन्होंने स्वीकार किया है, उनको योग की पाठशाला में बैठाकर आत्म-शुद्धि का पाठ बार-बार पढ़ा रहे हो।

१६—शब्दार्थ—सरल है।

भावार्थ—कोई गोपी कहती है कि ऐ भौंरे! क्या तुम्हें लज्जा नहीं आती। देखो, तुम्हारे सखा श्रीकृष्ण जी अब 'कूबरी-नाथ' कहला रहे हैं। गोपीनाथ कहला चुकने पर कूबरीनाथ कहलाना कितनी नीची पदवी को प्राप्त करना है! बताओ दासी का जूठन खाकर क्या अब यदुवंश पवित्र हो गया? ऐ भौंरे! तू बोलने को क्या मरता है?

टिप्पणी—'मरत कह बोल को' में बड़ा सुन्दर व्यंग है।

१७-शब्दार्थ—सरल है।

भावार्थ—कोई गोपी कहती है कि हे भ्रमर! श्रीकृष्ण योगी हैं और तुम उनके चेला हो। तभी तो उन्होंने कुब्जा रूपी तीर्थराज में जाकर इन्द्रियों का मेला किया है अर्थात् कुब्जा के साथ भोगविलास किया है। अब तुम मथुरा की याद भुला-कर गोकुल में आ गये हो किन्तु समझ लो कि यहाँ पर प्रेमी जन निवास करते हैं, यहाँ तुम्हारा कोई ग्राहक नहीं है। तुम अब यहाँ से चले जाओ।

१८-शब्दार्थ—विधि—प्रकार; हियगो—हृदय।

भावार्थ—इस प्रकार श्रीकृष्ण का स्मरण करती हुई प्रत्येक गोपी अपनी कुल-लज्जा को त्यागकर तथा भ्रमर का नाम लेकर उद्धव जी से (मन की व्यथा) कहने लगी। तदनन्तर सभी गोपियाँ यकायक एक साथ हा करुणामय नाथ! हा केशव!! हा कृष्णमुरारि!!! कहकर रो पड़ीं। उनकी वह दशा देखकर उद्धव का हृदय फट गया।

१९—शब्दार्थ—गिलानि—ग्लानि; सिगरी—सम्पूर्ण।

भावार्थ—गोपियों ने जिस विशुद्ध भक्ति को प्रकट किया, उद्धव जी उसकी प्रेम से सराहना करने लगे। उनका सम्पूर्ण संशयात्मक ज्ञान और अविवेक नष्ट हो गया। "ये गोपियाँ भगवान् के परम प्रेम की अधिकारिणी हैं, इनके दर्शन-मात्र से मैं अपना ज्ञान रूपी मल मिटाकर कृतकृत्य हो गया।" इतना कहकर उद्धव जी विमोहित और चकित हो गये।

२०—शब्दार्थ—पटतर—समता।

भावार्थ—जब गोपियाँ लोक और वेद की मर्यादा की कुछ भी चिन्ता न कर निरन्तर श्रीकृष्ण का इस प्रकार ध्यान करती हैं तो फिर क्यों न ये प्रियतम (श्रीकृष्ण) का परम आनंद दायक प्रेम-पद प्राप्त कर लें। यह सत्य है कि ज्ञान, योग और कर्म सबसे परे प्रेम की स्थिति है किन्तु मैं (अपने बुद्धि-वैषम्य के कारण ही) अभी तक इसकी ऐसी उपमा दिया करता था जैसी हीरा के आगे काँच की उपमा दी जाती है।

२१—शब्दार्थ—सरल है।

भावार्थ—वे लोग धन्य हैं, धन्य हैं जो भगवान को इस प्रकार भजा करते हैं। भगवान की यह भक्ति बिना पारस रूपी

प्रेम को कोई कैसे प्राप्त कर सकता है ? गोपियों ने मेरे इस ज्ञान को अहम् की उपाधि से विभूषित किया है। मैंने उनका अभिप्राय अब समझा है कि मेरा यह ज्ञान गोपियों के प्रेम का आधा भी नहीं है। मैंने व्यर्थ में ही इसके पीछे श्रम किया है !

२२--शब्दार्थ—सरल है।

भावार्थ—उद्धव जी कहते हैं कि इन गोपियों ने अपने चरणों का स्पर्श करने के लिए मुझे भ्रमर का सम्बोधन कर मना किया और फिर सभी ने मेरी हर प्रकार से चुटकी ली। मैं अब ब्रज के रास्तों की धूलि बनकर यहाँ निवास करूँगा जिससे गोपियों के विचरण करने पर उनके चरण, जो कि जीवन के सब सुखों की जड़ हैं और मुनियों के लिए भी दुर्लभ हैं, मुझ पर पड़ें।

टिप्पणी—ज्ञानी उद्धव जी का यह प्रेम इस पद में अपनी सीमा पर पहुँचा हुआ जान पड़ता है। 'ब्रज की धूरि' बनना उनके प्रेम की अनन्यता का परिचय दे रहा है।

२३--शब्दार्थ—सुभाय—स्वाभाविक रूप से।

भावार्थ—मैं इस वृन्दावन में वृक्ष, लता, वल्लरी आदि कैसे बन जाऊँ जिससे आते-जाते मुझ पर इन गोपियों की छाया पड़े, (और मैं उस छाया का आलिंगन कर आनन्द प्राप्त करूँ) किन्तु मैं जो कुछ चाहता हूँ वह मेरे वस का नहीं है। मैं जाकर श्रीकृष्ण जी से कहूँगा कि यदि आप मुझ पर प्रसन्न हैं तो कृपा कर यह वर दीजिए।

२४--शब्दार्थ बाँधी मूठी—मनोविनोद के लिए बुझक्कड़ लोग प्रायः खाली मुट्ठी बाँधकर यह कहा करते हैं कि बूझो, इसमें क्या है ? बूझने वाले को मुट्ठी में कुछ न कुछ होने का भ्रम होता है। वह अपनी समझ से उत्तर देता है किन्तु

जब मुट्ठी खोली जाती है तो वह छूछी निकलती है और हँसी होती है।

सन्दर्भ—व्रज से लौटे हुए उद्धव श्रीकृष्ण जी से कहते हैं—

भावार्थ—हे कृष्ण! तुम्हारी करुणामयी रसिकता एक दम झूठी है यह तो तभी तक बँधी हुई मुट्ठी के समान आकर्षक ज्ञात होती है जब तक इसका पोल (रहस्य) खुला नहीं है। मैंने व्रज जाकर तुम्हारे निर्दय रूप को देख लिया। बताओ तुम्हारा यह कौन धर्म है कि जो तुम्हारा आश्रय ग्रहण करते हैं उन्हें कुएँ में झोंक देते हो?

टिप्पणी—'बाँधी मूठी' इस पद का प्राण है। उपर्युक्त स्थान पर प्रयुक्त होने के कारण यह कहावत बहुत सुन्दर लगती है।

२५—शब्दार्थ—सरल है।

भावार्थ—उद्धव जी श्रीकृष्ण जी से बार-बार कहते हैं कि चलिए, अब वृन्दावन में रहिए और प्रेम-रूपिणी गोपियों के प्रेम को प्राप्त कीजिए। आप सभी प्रकार के कार्यों को त्याग कर केवल उन गोपियों को आनन्द दीजिए अन्यथा आप का प्रेम टूटा जाता है। प्रेम के टूट जाने पर फिर आप क्या कीजिएगा?

२६—शब्दार्थ—कल्पतरोरुह—कल्पवृक्ष ; उलहि—उमंगित होकर।

भावार्थ—अपने मित्र उद्धव के प्रेम भरे वचन सुनकर श्रीकृष्ण जी की आँखों में आँसू आ गया, वाणी रुक गयी। प्रेम के आवेश और बेबसी में उन्हें किसी की सुधि नहीं रही। इस समय साँवरे श्यामसुन्दर के एक-एक रोएँ में गोपिका ही गोपिका

दिखाई पड़ने लगीं मानों श्रीकृष्ण जी कल्पवृक्ष हो गये हों और गोपियाँ उसकी पत्तियों के समान अंग-अंग से निकल कर शोभा पा रही हों।

टिप्पणी—इसमें उत्प्रेक्षा अलंकार है।

फुटकर पद

१—शब्दार्थ—सिला—पत्थर की चट्टान; निरतत—नृत्य करता है।

भावार्थ—नन्ददास जी कहते हैं कि प्रातःकाल उठकर भगवान राम और कृष्ण का नाम लीजिए। अवधेश श्रीरामचन्द्र जी धनुर्धर हैं और श्रीकृष्ण जी व्रज के माखनचोर हैं। श्रीरामचन्द्र जी भरत, लक्ष्मण और शत्रुघ्न द्वारा सेवित हैं तथा उनको छत्र, चवँर और सिंहासन प्राप्त हैं और श्रीकृष्ण जी (हाथ में) लकुट (शिर में) मुकुट और (शरीर में) पीताम्बर धारण किये हुए गायों के संग फिरते हैं। रामचन्द्र जी ने समुद्र में पत्थर की शिला तैराकर उस पर सेतु बनाया था और इन्होंने गोवर्द्धन पर्वत को उँगली पर धारण कर व्रज को बचाया था। इसलिए हमें सब कुछ छोड़कर प्रभु का भजन करना चाहिए और उसी प्रकार प्रसन्न होना चाहिए जैसे चन्द्रमा को देखकर चकोर प्रसन्नता से नाच उठा करता है।

टिप्पणी—इस में कवि ने राम और कृष्ण-भगवान् के दोनों अवतारों का समान आदर किया है।

—:o:—

३—रसखानि

—:o::o::o:—

रसखानि के काव्य की पृष्ठभूमि — वैष्णव - प्रवर रसखानि जी गोस्वामी विट्ठलनाथ जी के शिष्य थे। इनके समय तक ब्रजभाषा अष्टछाप के कवियों तथा हितहरिवंश, गदाधर भट्ट, मीराबाई, स्वामी हरिदास, सूरदास मदनमोहन, श्रीभट्ट और व्यास जी आदि की रचनाओं का बल पाकर पूर्णतया समृद्ध और परिष्कृत हो चुकी थी। स्वामी वल्लभाचार्य की प्रेमलक्षणा भक्ति पर अधिक जोर देने के कारण और लोक-मर्यादा व वेद-मर्यादा का त्याग ही विधेय ठहराने के कारण कृष्ण-भक्तों की रुचि धीरे-धीरे शृङ्गार की ओर आकृष्ट होने लगी। रसखानि के दो-एक सवैयों में इस प्रकार की रुचि का कुछ आभास मिलता है किन्तु इनके अधिकांश सवैये भक्तिपक्ष के हैं जिन में श्रीकृष्ण के सौन्दर्य, वेशभूषा, वंशी-वादन तथा गोपियों के साथ की जाने वाली छेड़छाड़ का वर्णन है।

रसखानि के काव्य का वर्ण्य-विषय—रसखानि जी की समस्त कविताएँ 'सुजान रसखान' और 'प्रेमवाटिका' के नाम से प्रकाशित हो चुकी हैं। ये दोनों मुक्तक काव्य हैं। 'सुजान रसखान' में श्रीकृष्ण की यौवनावस्था की शोभा व लीला का वर्णन कवित्त तथा सवैया छन्दों में किया गया है और 'प्रेमवाटिका' में प्रेम का शास्त्रीय निरूपण दोहों में किया गया है।

रसखानि के काव्य की समीक्षा—कहा जाता है कि श्रीमद्भागवत के फारसी अनुवाद में गोपियों के विरह का प्रसङ्ग पढ़कर रसखानि के दिल में समाया कि जिस नन्द के फरज़न्द पर हज़ारों हसीन गोपियाँ जान दे रही हैं, उसी लाल से इश्क़ क्यों न जोड़ना चाहिये ? बस इस भक्ति-भावना में मस्त होकर ये वृन्दावन चले आये। चूँकि रसखानि अपने प्रेमदेव की उस छवि पर रीझ गये थे जिस पर गोपियाँ मरती थीं इसलिए इनके काव्य में गोपीनाथ की यौवनकाल की लीलाएँ ही अङ्कित हैं। इन्होंने अपने काव्य में भगवान की अन्य लीलाओं की अपेक्षा उनके वंशी बजा-बजाकर गोपियों के मोहित करने वाले प्रसङ्ग को कई स्थलों पर लिखा है, जान पड़ता है इस प्रसङ्ग से उन्हें बहुत अनुराग था। श्रीकृष्ण की बाल-लीला या अन्य लीलाओं के वर्णन की ओर उनकी प्रवृत्ति नहीं थी। इन्होंने प्रमुख रूप से संयोग शृङ्गार का ही वर्णन किया है। श्रीकृष्ण के मथुरा-प्रवास करने पर गोपियों में जो विरह उमड़ा था, उसका वर्णन इन्होंने केवल दो-एक सवैयों में ही किया है किन्तु संयोगावस्था में होने वाले पलकांतर विरह का वर्णन इन्होंने कई स्थानों पर किया है। सूरदास जी की भांति इन्होंने आंतरिक मनोभावों का उद्घाटन नहीं किया है प्रत्युत प्रत्यक्ष दिखायी पड़ने वाले बाह्य-रूप का चित्रण किया है। श्रीकृष्ण के गुणों की अपेक्षा उनकी बाँकी अदा, तिरछी चितवन, मुरली-ध्वनि और गोपियों के साथ की जाने वाली छेड़छाड़ पर ये अधिक मुग्ध थे। इनके काव्य में सर्वत्र स्वाभाविक सरसता और आनंद का उद्रेक मिलता है और विरह या दुख का तो कहीं नाम तक भी नहीं मिलता है। अपने कोमल भावों को मूर्त्त रूप देने के लिए इन्होंने तदनुरूप परिस्थितियों की उद्भावना की है, यही कारण है कि इनका वर्णन अत्यंत आकर्षक, प्रभाव-

शाली और सरस हुआ है। यह यद्यपि आरम्भ में मुसलमान थे पर बाद में उपास्यदेव भगवान श्रीकृष्ण पर अपना सर्वस्व बलिदान कर कृष्णमय हो गये थे। अपनी उत्कट भक्ति के कारण ही इन्होंने उच्चकोटि के वैष्णव-भक्तों में स्थान पा लिया था। सच पूछिए तो यही एक ऐसा मुसलमान कवि था जिसने पूर्णतया विदेशीपन का बहिष्कार कर दिया। इन्हीं को लक्ष्य कर भारतेन्दु जी ने "इन मुसलमान हरिजनन पर कोटिन हिंदू वारिए।" कहा है। ये अपने उपास्यदेव की शक्ति और भक्त-वत्सलता पर पूरा विश्वास रखते थे। गोस्वामी तुलसीदास जी की भांति इन्होंने भी हरिशंकरी सवैया लिखा है और श्रीकृष्ण तथा शंकर का समान रूप से आदर किया है। भगवती भागीरथी का वर्णन भी एक सवैये में इन्होंने किया है, इससे इनके उच्च विचारों का पता लगता है। इनकी रचनाएँ यद्यपि परिमाण में बहुत थोड़ी हैं पर अपनी सरलता, सरसता और मोहकता में अद्वितीय हैं 'प्रेमवाटिका' में इन्होंने प्रेम का जो शास्त्रीय निरूपण किया है, उससे इनकी बहुत बड़ी जानकारी का परिचय मिलता है।

भाषा और शैली—रसखानि की काव्य-भाषा अत्यन्त स्वाभाविक, शुद्ध, सरस और प्रवाहमय है। इसमें शब्दाडम्बर और सामासिक पदावली का पूर्णतया अभाव है। अनुप्रास की यद्यपि अधिकता है पर उसके कारण भाव-विधान में कहीं भी व्याघात नहीं पड़ने पाया है प्रत्युत सौन्दर्य-वृद्धि विशेष रूप से हुई है। कई स्थानों पर मुहाविरों और लोकोक्तियों का प्रयोग बहुत सुन्दर हुआ है। शब्दालङ्कारों की अपेक्षा अर्थालङ्कारों की ओर रसखानि ने विशेष रुचि नहीं दिखायी है। अपनी रचना में स्वभावोक्ति को इन्होंने विशेष प्रश्रय दिया

है। ब्रज के ठेठ शब्दों को प्रयुक्त करते हुए इन्होंने ब्रजभाषा का जो स्वाभाविक और सरस रूप दिखाया है उसके दर्शन बिहारी और आनन्दघन आदि जैसे कुछ कवियों की रचनाओं को छोड़कर अन्यत्र दुर्लभ हैं। इन्होंने सूरदास के समय से चली आती हुई पद-शैली की परम्परा को त्यागकर कवित्त और सवैया की पद्धति अपनायी और इसमें सफलतापूर्वक कृष्ण-चरित का वर्णन किया। यह वास्तव में इनकी सब से बड़ी विशेषता है।

३—रसखानि

—::※::—

सुजान रसखान

१—**शब्दार्थ**—पाहन—पत्थर ; कालिंदी यमुना।

सन्दर्भ—प्रेमी भक्त रसखानि जी अपनी मनोकामना का वर्णन करते हैं—

भावार्थ—हे प्रभो ! अगले जन्म में यदि मैं मनुष्य होऊँ तो मैं व्रज-प्रांत में गोकुल के अहीरों के बीच निवास करूँ, यदि विवशता के कारण पशु होना पड़े तो नंद की गायों के बीच चरा करूँ, यदि पक्षी होऊँ तो यमुना तट पर स्थित कदम्ब की डालियों पर बसेरा करूँ और कहीं यदि (जड़) पत्थर होऊँ तो उसी पर्वत का जिसे भगवान श्रीकृष्ण ने इन्द्र की प्रलय-वृष्टि से व्रज को बचाने के लिए, छाते के समान अपने हाथ में धारण किया था।

टिप्पणी—प्रस्तुत सवैये में कवि ने व्रज-भूमि और व्रजेश के प्रति अपना अनन्य अनुराग प्रकट किया है।

२—**शब्दार्थ**—लकुटी—लाठी ; राज तिहूँ पुर—त्रिलोकी का राज्य ; कलधौत—सुवर्ण।

सन्दर्भ—द्वारिका में बैठे हुए श्रीकृष्ण जी व्रज के सुख का स्मरण करते हुए कहते हैं—

भावार्थ—मैं उस लकुटी और काली कमरी पर त्रिलोक का राज्य निछावर करता हूँ। (भाव यह है कि काली कमली ओढ़े हुए और लाठी लिए हुए मुझे जो आनंद ब्रज में घूमने में मिलता था उसके आगे त्रिलोक का राज्य तुच्छ है।) मैं नन्द की गाय चराकर और उस के आनन्द में मग्न होकर अष्टसिद्धि और नवनिधि के सुख को भूल सकता हूँ। मैं ब्रज के करील-कुंजों पर करोड़ों स्वर्ण के भव्य-भवनों को निछावर करता हूँ। मेरे मन में यही उमंग उठा करती है कि कब पुनः अपनी आँखों से ब्रज के वन-बागों और सरोवरों को देखूँ।

३—शब्दार्थ—अधरान धरी—ओठों पर रक्खी हुई।

सन्दर्भ—कोई गोपी मुरली के सम्बन्ध में कह रही है।

भावार्थ—हे सखी ! मैं मोर पंख अपने सिर पर धारण करूँगी और घुँघुचियों की माला को गले में पहन लूँगी। पीताम्बर ओढ़कर लाठी लेकर मैं गायों और ग्वालों के संग मैं घूमूँगी। तेरे कहने पर मैं श्रीकृष्ण का पूरा स्वाँग जैसा कि उन्हें प्रिय है, धारण कर लूँगी; पर उनकी इस मुरली को अपने ओंठों पर न रख सकूँगी (क्योंकि वह मेरी सौत बनकर प्यारे श्रीकृष्ण का अधरामृत पान कर चुकी है। भला, उस से मेरी कैसे निभेगी ?)

टिप्पणी—मुरली पर कही गयी यह उक्ति कितनी मनो-हारिणी है। अंतिम पंक्ति में यमक अलंकार है।

४—शब्दार्थ—सरल है।

भावार्थ—गुणीजन, गणिका, गन्धर्व, सरस्वती तथा शेष नाग सभी जिसका गुणानुवाद करते हैं; गणेश जिसका

नाम बताते हैं तथा ब्रह्मा और शंकर जिसकी महिमा का पार नहीं पाते। योगी, यती, तपस्वी और सिद्ध लोग जिसके दर्शन को पाने की लालसा से निरन्तर समाधि लगाते हैं उसी (ब्रह्म) को अहीरों की लड़कियाँ तनिक से मक्खन के लिए नाच नचाती हैं अर्थात् परेशान करती हैं।

टिप्पणी—इसमें कवि ने आश्चर्य प्रकट करते हुए निर्गुण ब्रह्म की अपेक्षा सगुण-ब्रह्म को अधिक महत्व दिया है।

५—शब्दार्थ—सरल है।

भावार्थ—रसखानि जी कहते हैं कि शेषनाग, महादेव, गणेश, सूर्य तथा इन्द्र आदि जिसका निरंतर गायन करते हैं। वेद जिसको अनादि, अनन्त, अखण्ड और अछेद्य बताते हैं। नारद, शुक तथा व्यास जैसे ऋषिगण जिसका नाम रटते-रटते थक जाते हैं फिर भी उसका ओर-छोर नहीं पाते उसी ब्रह्म को अहीरों की लड़कियाँ थोड़े से मक्खन के लिए नाच नचाती हैं।

टिप्पणी—इसमें भी पूर्ववत् आश्चर्य की भावना का निरूपण हुआ है।

६—शब्दार्थ—सरल है।

सन्दर्भ—कोई गोपी अपनी सखी से श्रीकृष्ण की शोभा का वर्णन कर रही है—

भावार्थ—हे सखी धूल लपेटे हुए श्रीकृष्ण जी बहुत ही शोभा पा रहे थे और उनकी सुन्दर चोटी भी वैसी ही शोभा पाती थी। वे पीली कछनी कसे हुए थे और खेलते-खाते हुए आँगन में घूम रहे थे। उस समय उनके पैरों की पैजनी बज रही थी। श्रीकृष्ण की उस शोभा को जो देखता था वह उस पर करोड़ों चन्द्रमा और कामदेव को निछावर कर देता था। हे

सखी ! मैं उस कौए के भाग्य की क्या प्रशंसा करूँ जो भगवान् श्रीकृष्ण के हाथ से मक्खन रोटी छीन ले गया।

टिप्पणी—प्रस्तुत सवैये में श्रीकृष्ण की बाल-लीला का वर्णन किया गया है।

७—शब्दार्थ—हुतो—था ; कानि करै—अनुशासन मानता है।

सन्दर्भ—अपने गाँव के पास गोचरण के हेतु आये हुए श्रीकृष्ण जी का रूप देखकर और उनकी बंशी की तान सुनकर कोई गोपी लौटी है। वह अपनी सखी से श्रीकृष्ण के सौन्दर्य का वर्णन कर रही है—

भावार्थ—हे सखी ! आज वह (कन्हैया) हमारे गाँव के पास गौओं को चराने के लिए आया था। मैं क्या कहूँ जो तू उस स्थान पर नहीं गयी। इस ब्रज की समस्त स्त्रियाँ उस पर अपने प्राणों को निछावर करती हैं और उसकी बलैया लेती हैं। श्रीकृष्ण ने कुछ ऐसा जादू ब्रज की युवतियों के ऊपर डाल दिया है कि (उसके वशीभूत होकर) कोई गोपी किसी की बात नहीं सुनती। वह कन्हैया यहाँ आकर अपनी गाय चरा गया, तान सुना गया, प्रेम पैदा कर गया और सब के चित्त को प्रसन्न कर गया।

टिप्पणी—इस सवैये में श्रीकृष्ण के सौन्दर्य का प्रभाव वर्णित है। इसमें स्वभावोक्ति अलङ्कार है।

८—शब्दार्थ—सरल है।

भावार्थ—रसखानि जी कहते हैं कि श्रीकृष्ण के सिर में जिस सुन्दरता से पगड़ी कसी हुई है उसी सुन्दरता से उसमें मोर-पंख लगे हुए हैं। जिस प्रकार वक्षस्थल में वनमाला सुशोभित

हो रही है उसी प्रकार मस्तक में गोरज लगी हुई शोभा दे रही है। श्रीकृष्ण की इस शोभा को देखकर कोई ग्वालिनि पागल हो गयी और नेत्र मूँदकर कुछ पुकारते हुए हँसने लगी। इस समय उस की यह दशा देखकर जब कोई सखी उसे घूँघट खोलने के लिए कहती है तो वह ग्वालिनि उत्तर देती है कि श्रीकृष्ण की मूर्ति मेरे नेत्रों में बसी हुई है अतएव मैं अपना घूँघट कैसे खोलूँ ?

टिप्पणी—प्रस्तुत सवैये में श्रीकृष्ण के रूप का जादू देखते ही बनता है !

६—शब्दार्थ—सरल है।

भावार्थ—रसखानि जी कहते हैं कि ब्रह्म को पाने की इच्छा से मैंने पुराणों के श्लोक सुने और वेद की ऋचाओं को उससे भी चौगुने उत्साह से सुना पर उनके विषय में कुछ भी जानकारी न हुई। मैंने कभी कहीं पर न तो देखा है और न सुना है कि वह ब्रह्म किस स्वरूप और किस स्वभाव का है। मैं उस ब्रह्म को पुकारते-पुकारते थक गया पर किसे ने भी उसका पता न बताया। अंत में जब मैं निराश हो गया तो देखता क्या हूँ कि वह ब्रह्म वृन्दावन के निकुञ्ज में छिपा हुआ राधिका जी के पैरों को दबा रहा है।

टिप्पणी—इस सवैये में कवि ने ब्रह्म के सगुण रूप पर आस्था प्रकट की है और उसे सुलभता से प्राप्य बताया है तथा निर्गुणब्रह्म को दुर्लभ और दुस्साध्य बताया है।

१०—शब्दार्थ—गोधन—अनुमानतः यह बिरहा के समकक्ष की कोई राग थी जो अब लुप्त हो गयी है। 'रसखानि और

उनका काव्य' नामक पुस्तक में इस पर विचार किया गया है। विशेष जानकारी के लिए पाठक उक्त पुस्तक को देख सकते हैं।

सन्दर्भ—कोई गोपी श्रीकृष्ण के प्रेम-पाश में फँस गयी थी। श्रीकृष्ण की मोहनी छवि का जादू उस पर पड़ा देखकर ब्रज के लोग चबाव करने लगे। इस चबाव को सुनकर वह गोपी अपनी सखी से कहती है।

भावार्थ—जब वह (कन्हैया) अंटा पर चढ़कर मोहिनी तानों से गोधन नामक गीत गाकर मुरली को मीठे-मीठे स्वरों में बजायेगा तो मैं अपने कान में उँगली डाल लूँगी। इस प्रकार उसके गाने और वंशी बजाने का प्रभाव मुझ पर कुछ भी न पड़ेगा किन्तु मैं ब्रज के लोगों से पुकार कर यह बात कह दे रही हूँ कि यदि कहीं कल उसके मुख की मुस्कान दिखायी पड़ी तो फिर किसीके बहुत समझाने पर भी मेरा मन हाथ में न रहेगा, न रहेग, न रहेगा।

टिप्पणी—'सँभारी न जैहै न जैहै न जैहै।' में पुनरुक्ति-प्रकाश अलङ्कार है। कवि ने पुनरुक्ति करके अपने कथन को जोरदार बना दिया है।

११—शब्दार्थ—माखन चाखन हारो—मक्खन खाने वाले श्रीकृष्ण ; राखन हारो—रक्षा करने वाला।

भावार्थ—रसखानि जी कहते हैं कि ऐ मन ! तू यह देखता क्यों नहीं कि द्रौपदी, गणिका, गज, गीध तथा अजामिल का उद्धार प्रभु ने कैसे किया गौतम-पत्नी अहिल्या कैसे तरीं और कैसे प्रह्लाद का भारी दुःख दूर हुआ ? तू व्यर्थ में सोच क्यों करता है। बेचारा यम तेरा क्या बना-बिगाड़ लेगा जब कि स्वयं श्रीकृष्ण जी तेरी रक्षा करने वाले हैं।

टिप्पणी—इसमें मृत्यु-भय से त्रस्त जीव को भगवान का सहारा बताकर धैर्य रखने के लिए कहा गया है। अंतिम पंक्ति में वृत्यनुप्रास है।

१२—शब्दार्थ—गात—शरीर ; फनी—सर्प।

भावार्थ—रसखानि कहते हैं कि देखो, शंकर जी धतूरे का पत्ता चबा रहे हैं और शरीर में विभूति लगा रहे हैं। उनके शिर की जटा कंधे के चारों ओर लटक रही है और उसके ऊपर सुन्दर सर्प शोभा पा रहा है। ये जिसे अपनी कृपादृष्टि से देख लेते हैं उसके समस्त दुख-को दूर कर देते हैं। ऐसे उदार शंकर जी गजखाल पहिने हुए और कपालों की विशाल माला गले में धारण किये गाल बजाते चले आ रहे हैं।

टिप्पणी—शिव जी के भक्त शिव जी को प्रसन्न करने के लिए गाल बजाते हैं। इसी क्रिया को लक्ष्य करके रसखानि ने चुटकी लिया है।

१३—शब्दार्थ—सरल है।

भावार्थ—रसखानि कहते हैं कि ऐ अमृतमयी गंगा जी ! मेरी बात सुन। रोगियों ने तेरा जलपान करना संजीविनी सेवन करने के समान मान लिया है, वे अब न वैद्य की औषधि ही खाते हैं और न कुछ संयम ही करते है। तेरा जल सेवन करने से कुपथ्य भी पथ्य हो जाता है। इसी से तेरा भरोसा करके शंकर जी आक-धतूर चबाते और बिष खाते फिरते हैं।

टिप्पणी—इसमें गंगाजल की महिमा वर्णित है।

१४—शब्दार्थ—सरल है।

भावार्थ—रसखानि कहते हैं कि वही वाणी सार्थक है

जो श्रीकृष्ण का गुणानुवाद करे; वही कान सार्थक हैं जो उनकी कथा का श्रवण करें; हाथ भी वही सार्थक हैं जो उनकी सेवा करें और वही पैर सार्थक हैं जो उनका अनुसरण करें अर्थात् तीर्थाटन करें। वे ही प्राण सफल हैं जो उनके संग में रहा करें और मान भी वही सफल है जो उन के प्रति हो। इसी प्रकार वही व्यक्ति आनन्द-राशि को प्राप्त कर सकता है जिसे आनन्द-राशि श्रीकृष्ण का सानिध्य प्राप्त हो।

टिप्पणी—अंतिम पंक्ति में यमक की बहार दर्शनीय है।

१५—शब्दार्थ—तातो—गर्म ; छोहरा—लड़का।

सन्दर्भ—कोई गोपी अपनी सखी से श्रीकृष्ण की वंशी का प्रभाव वर्णन करती है—

भावार्थ—हे सखी ! समझ में नहीं आता कि यशोदा के पुत्र ने वंशी बजाई या सर्वत्र विष बिखेर दिया। देखो न, जो दूध दुहकर गर्म होने के लिए आग पर रखा गया था, वह ठंढा हो गया पर (वंशी के प्रभाव के कारण) किसी ने उसे जमाया तक नहीं। जामन भी रक्खा हुआ खट्टा हो गया। ज्यों ही श्रीकृष्ण जी ने वंशी की तान सुनाई, सभी अचेत-से हो गये उनके हाथ-पाँव वश में नहीं रहे। कहाँ तक कहूँ पुरुष, स्त्री, नवयुवतियाँ एवं सारा ब्रज वंशी-ध्वनि को सुनकर बावला बन गया है।

टिप्पणी—इस में सन्देह अलंकार है।

१६—शब्दार्थ—सरल है।

सन्दर्भ—द्वारिका में बैठे द्वारिकाधीश श्रीकृष्ण जी ब्रज का स्मरण कर रहे हैं—

भावार्थ—ग्वालों के संग वन की ओर जाना, फिर वहाँ से लौटना, गायों का चराना और किसी को देखकर गाना यह सब बचपन की बातें सोच कर मेरे नेत्र फड़क उठते हैं। मैं यहाँ की गज-मुक्ता की माला को व्रज की घुंघुचियों की माला पर निछावर करता हूँ। हाय ! कुंजों की सुधि आने पर तो मेरे प्राण धड़कने लगते है। गोबर से लिपे हुए व्रज के घर मुझे इतने प्यारे लगते हैं कि मरकतमणि जड़े हुए ये महल फीके लगते हैं। द्वारिका के मन्दिर यद्यपि मन्दराचल से भी ऊँचे हैं पर इन से मेरे हृदय में संतोष नहीं है। मेरे हृदय में तो व्रज का खरका सदैव खटकता रहता है अर्थात् व्रज के खरकों पर मेरा चित्त लगा हुआ है।

टिप्पणी—इस कवित्त में भगवान् श्रीकृष्ण ने व्रज में की गयी क्रीड़ाओं का स्मरण किया है। इसमें स्मरण अलंकार है।

१७—शब्दार्थ—सरल है।

भावार्थ—रसखानि कहते हैं कि अपार सुख-सम्पत्ति की गणना करने से क्या और योगी बनकर शरीर में विभूति लपेटने, पञ्चाग्नि तापने, जलशयन करने तथा सिन्धुराज के ओर-छोर तक विजय प्राप्त करने से भी क्या होता है। निरन्तर जप, तप, संयम और प्राणायाम करना और हजारों तीर्थों की बात पूछना भी मूर्खता है। वह व्यक्ति एकदम गँवार है जिसने श्रीकृष्ण से प्रेम नहीं किया और उनके दरबार का सेवन नहीं किया।

टिप्पणी—प्रस्तुत कवित्त में योग-साधना और जप, तप, तीर्थ, व्रत और उपवास व्यर्थ बताया गया है और एकमात्र भगवान श्रीकृष्ण की भक्ति करना ही मनुष्य का इष्ट-कार्य बताया गया है।

१८—शब्दार्थ—कंचन—सोना ; दीठि—दृष्टि ; मुक्ताहल—मोती ।

भावार्थ—जिसके पास ऐसे सुवर्ण-मन्दिर हैं जिन पर दृष्टि नहीं ठहरती और जिनमें जड़े हुए लाल और माणिक्य रत्न दीपमाला की भाँति जगमगा कर सदा प्रकाश करते रहते हैं तथा जिसके द्वार पर राजाओं की ऐसी भीड़ लगी रहती है जो द्वार-पालों के हटाये भी नहीं हटती । रसखानि कहते हैं कि ऐसे व्यक्ति का और ऐश्वर्य मैं कहाँ तक वर्णन करूँ। ऐसा ऐश्वर्य-सम्पन्न व्यक्ति गंगा जी में स्नान कर मोतियों का दान करता हो, वेद का बीस बार पारायण करता हो तथा सवेरे से ही ध्यान करता हो तो भी सब व्यर्थ ही है यदि उसने चित्त देकर पीताम्बरधारी श्रीकृष्ण से प्रेम नहीं किया ।

टिप्पणी—प्रस्तुत कवित्त में कृष्ण-प्रेम के समक्ष ऐश्वर्य की व्यर्थता सिद्ध की गयी है ।

१९—शब्दार्थ—सरल है ।

सन्दर्भ—श्रीकृष्ण जी गोचारण कर वन से शृंगार किये लौट रहे हैं । इस समय कोई गोपी कोठे पर चढ़कर अपनी सखी को श्रीकृष्ण की शोभा दिखाती है—

भावार्थ—हे सखी ! जरा कोठे पर चढ़कर जमुना के किनारे कदम्ब के पास उस (श्रीकृष्ण) के पीताम्बर की फहरानि देखो । उसके मस्तक पर गोरज और गले में नयी वनमाला शोभा दे रही है । गायें उसके आगे-आगे चल रही हैं और ग्वाल-बाल उसके पीछे-पीछे मधुर-मधुर गाते आ रहे हैं । श्रीकृष्ण जी अपनी चितवनि तिरछी किये मन्द-मन्द मुस्करा रहे हैं और धीरे-धीरे बंशी बजा रहे हैं । वे इस प्रकार आनन्द की वृष्टि करते हुए, शरीर

की जलन को शान्त करते हुए तथा नेत्रों और प्राणों को प्रसन्न करते हुए गोकुल को वापस आ रहे हैं।

२०—शब्दार्थ—ढोटा—लड़का ; तरनि-तनूजा—सूर्य की पुत्री यमुना ; अनहितुन—शत्रुओं।

सन्दर्भ—श्रीकृष्ण के कालियदह में कूद पड़ने पर यशोदा जी विलाप कर रही हैं—

भावार्थ—हम दोनों प्राणी सब को अपने बच्चे के समान जानते थे और सभी की भलाई करने के लिए नित्य दौड़ पड़ते थे। ऐसे लोग आज दूर से तमाशा देख रहे हैं और यमुना के निकट नहीं आ रहे हैं। मैं अपने शत्रुओं की अन्य बातों की क्या चर्चा करूँ जब कि मेरे हित चाहने वाले लोग ही आँख छिपा रहे हैं। हाय ! मैं क्या कहूँ, लोग मुझे खाली धीरज ही देते हैं और श्रीकृष्ण को कालिय नाग से नहीं छुड़ाते हैं।

टिप्पणी—इस कवित्त में माता यशोदा का विलाप बहुत ही भाव-पूर्ण है। इसमें करुण रस मूर्तिमान हुआ है। आली, खाली, ठाली, वनमाली और काली शब्दों में वृत्यनुप्रास की सुन्दरता मन को मुग्ध कर देती है।

प्रेमवाटिका

१—शब्दार्थ—सरल है।

भावार्थ—रसखानि जी कहते हैं कि श्रीकृष्ण की इस छवि पर मैं करोड़ों कामदेवों को निछावर करता हूँ जिसकी उपमा कविगण अभी तक नहीं खोज सके।

२—शब्दार्थ—सरल है।

भावार्थ—श्री राधिका जी प्रेम की भण्डार हैं और श्रीकृष्ण जी प्रेम की मूर्ति हैं, ये दोनों प्रेमवाटिका के माली और मालिन हैं।

३—शब्दार्थ—सरल है।

भावार्थ—सभी प्रेम-प्रेम कहकर चिल्लाते हैं पर वास्तविकता तो यह है कि प्रेम को कोई भी नहीं जानता। यदि मनुष्य प्रेम की यथार्थता को जान ले तो फिर व्यर्थ में उसे रोना ही क्यों पड़े।

४—शब्दार्थ—सरल है।

भावार्थ—रसखानि जी कहते हैं कि प्रेम अगम है, अनुपम है, अमित है, लोग इसे समुद्र के समान बताते हैं। जो व्यक्ति इस प्रेम रूपी समुद्र के पास पहुँच जाता है, उसे फिर वापस नहीं लौटना पड़ता, अर्थात् उसकी मुक्ति हो जाती है।

५—शब्दार्थ—जलधीस—जल के स्वामी ; गिरीस—शंकर।

भावार्थ—प्रेम रूपी मदिरा का पान कर के वरुण जल के स्वामी कहलाये और प्रेम से विष पान करने के कारण ही शंकर जी पूज्य हुए।

६—शब्दार्थ—सरल है।

भावार्थ—प्रेम रूपी दर्पण कुछ अजीब खेल दिखाता है। इसमें अपना स्वरूप कुछ अमूल्य ही दिखायी पड़ता है।

७—शब्दार्थ—सरल है।

भावार्थ—प्रेम कमल के तंतुओं से भी सूक्ष्म और

तलवार की धार से भी तीक्ष्ण है। प्रेम का पंथ दुर्गम है। यह अत्यन्त सीधा और अत्यन्त टेढ़ा है।

८—शब्दार्थ—सरल है।

भावार्थ—प्रेम लोक और वेद की मर्यादा, लज्जा, कार्य, सन्देह तथा उचित अनुचित आदि का विचार सब को अपनी धारा में बहा ले जाता है। (भाव यह है कि प्रेमी इन सब का कुछ भी विचार नहीं रखता।)

९—शब्दार्थ—सरल है।

भावार्थ—रसखानि जी कहते हैं कि शास्त्रों को पढ़कर पंडित होने या कुरान को पढ़कर मौलवी होने से क्या हुआ यदि इन्होंने प्रेम को बिल्कुल नहीं जाना।

टिप्पणी—कबीरदास जी ने भी इसी आशय का दोहा कहा है—

पोथी पढ़ि-पढ़ि जग मुआ, हुआ न पंडित कोय।
ढाई अक्षर प्रेम का, पढ़ै सो पण्डित होय॥

१०शब्दार्थ—सरल है।

भावार्थ—मुनिजन कहते हैं कि काम, क्रोध, मद, मोह भय, लोभ, द्रोह और मात्सर्य आदि सभी से परे प्रेम की स्थिति है।

११—शब्दार्थ—सरल है।

भावार्थ—रसखानि जी कहते हैं कि सच्चे प्रेम में गुण, यौवन, रूप, धन या किसी प्रकार के स्वार्थ की अपेक्षा नहीं रहती। यह तो सर्वथा शुद्ध और कामना रहित होता है।

१२—शब्दार्थ—सरल है।

भावार्थ—रसखानि जी कहते हैं कि प्रेम अत्यन्त सूक्ष्म, अत्यन्त कोमल और अत्यन्त पतला होता है यह सब से दूर भी है। यह सब से सदैव कठिन रहा करता है। और निरन्तर एकरस से परिपूर्ण रहा करता है।

१३—शब्दार्थ—सरल है।

भावार्थ—संसार में सब कुछ प्रत्यक्ष दिखायी पड़ता है और सब के विषय में चर्चा चला करती है पर ईश्वर और प्रेम यह दोनों अदृश्य और अकथनीय दिखायी पड़ते हैं।

१४—शब्दार्थ—सरल है।

भावार्थ—प्रेम वही है जिसको बिना जाने संसार की सारी जानकारी अपूर्ण रहती है और जिसे जान लेने पर संसार में जानने के लिए कुछ भी शेष नहीं बचता है।

१५—शब्दार्थ—सरल है।

भावार्थ—रसखानि जी कहते हैं कि दाम्पत्य सुख, विषय-लिप्सा, पूजा, निष्ठा तथा ध्यान इन सबके परे विशुद्ध-प्रेम की स्थिति है।

१६—शब्दार्थ—सरल है।

भावार्थ—मित्र, पत्नी, भाई, पुत्र इनमें जो सहज प्रेम देखा जाता है वह शुद्ध प्रेम के अंतर्गत नहीं आता है। शुद्ध प्रेम तो इससे अधिक अकथनीय विशेषता रखता है।

१७—शब्दार्थ—सरल है।

भावार्थ—प्रेम सदैव एकांगी और अकारण होता है। वह सदा समान और एक रस रहता है अर्थात् प्रेम काल से बाधित नहीं होता है। जो अपने प्यारे को ही अपना सर्वस्व समझता है। उसी का प्रेम सच्चा कहा जाता है।

१८—शब्दार्थ—सरल है।

भावार्थ—जो अपने प्यारे से सदैव डरता रहता है और उससे कभी कुछ नहीं चाहता। उस पर जो विपत्ति आती है, उसको सहता रहता है तथा जो सदैव एक रस (प्रेम) की ही इच्छा करता है उसी का प्रेम प्रशंसनीय है।

१९—शब्दार्थ—सरल है।

भावार्थ—सभी 'प्रेम प्रेम' चिल्लाते हैं पर प्रेम की फाँस तो बहुत ही कठिन होती है। प्रेमी के प्राण अपने प्यारे से बिछुड़ने पर निकलते नहीं वरन् तड़पते हैं, उस समय केवल उच्छ्वास ही चलता है।

२०—शब्दार्थ—सरल है।

भावार्थ—प्रेम ईश्वर रूप है और ईश्वर प्रेम रूप है। यह एक होते हुए दो नाम से प्रसिद्ध हैं जैसे सूर्य धूप एक होते हुए दो नाम से शोभा पाते हैं।

२१—शब्दार्थ—सरल है।

भावार्थ—जो प्रेमी प्रेम की फाँस में फँसकर मर जाता है वही अमर होता है। प्रेम के मर्म को जाने बिना मरकर कोई भी अमरता नहीं प्राप्त करता।

२२—शब्दार्थ—सरल है।

भावार्थ—संसार में लोगों को सब से अधिक अपने शरीर का मोह होता है पर प्रेम तो शरीर से भी अधिक प्यारा होता है।

टिप्पणी—लोग शरीर त्यागकर प्रेम की रक्षा करते हैं।

जैसे राजा दशरथ ने पुत्र-प्रेम की रक्षा के लिए अपना प्राण त्याग दिया था।

२३—**शब्दार्थ**—सरल है।

भावार्थ—जिसको पा चुकने पर प्रभु और उनके दिव्य धाम बैकुण्ठ की चाहना नहीं रहती है वही प्रेम अलौकिक, शुद्ध, शुभ और सरस होता है।

२४, २५—**शब्दार्थ**—सरल है।

भावार्थ—रसखानि जी कहते हैं कि प्रेम को कोई फाँसी कहता है, कोई तलवार बताता है और कोई इसे नेजा, भाला, तीर और अनोखी ढाल बताते हैं। पर हमने इसके सम्बन्ध में केवल इतना ही सुना है कि प्रेम एक अजीब खेल है जहाँ पर प्राणों की बाजी लग जाती है और दिल का दिल से मिलाप होता है।

२६—**शब्दार्थ**—सरल है।

भावार्थ—रसखानि जी कहते हैं कि प्रेम की खातिर अपने शिर को काट दो, हृदय को छेद दो और शरीर के टुकड़े-टुकड़े कर दो फिर इसके बदले हँसकर दुनिया से केवल वाह-वाही (प्रशंसा) प्राप्त करो।

२७—**शब्दार्थ**—सरल है।

भावार्थ—यही कारण है कि प्रेम ने मुक्ति आदि सभी से अधिक यश प्राप्त किया है। प्रेम का प्रादुर्भाव होने पर संसार के सारे नेम और बँधन आप से आप नष्ट हो जाते हैं।

टिप्पणी—इसमें प्रेम का महत्व मुक्ति से अधिक बताया गया है।

२८—**शब्दार्थ**—सरल है।

भावार्थ—भगवान् के वश में सारा संसार है पर भगवान् प्रेम के अधीन हैं। इसलिए भगवान् ने स्वयमेव इसे गौरवान्वित किया है।

२९—**शब्दार्थ**—सरल है।

भावार्थ—सभी श्रुतियों का निचोड़ यह है कि वेदोक्त धर्म ही मूल धर्म है पर प्रेम उससे अधिक अनिवार्य परम धर्म है।

३०—**शब्दार्थ**—सरल है।

भावार्थ—यद्यपि यशोदा और नन्द जी तथा सभी ग्वाल-बालों का प्रेम धन्य है पर गोपियाँ तो इस विश्व में अनन्य प्रेम रखने वाली हुई।

टिप्पणी—गोपियों का प्रेम सचमुच सराहनीय है। सूरदास जी ने भी गोपियों को 'प्रेम की धुजा' कहा है।

३१—**शब्दार्थ**—सरल है।

भावार्थ—गोपियों के प्रेम-रस का थोड़ा सा माधुर्य्य उद्धव को भी मिला जिसकी उन्होंने बहुत प्रशंसा की। अब दूसरा कौन है जो वह माधुर्य पा सके।

३२—३३—**शब्दार्थ**—तूल—विस्तार।

भावार्थ—श्रवण, कीर्तन और दर्शन करने से मनुष्य में जो भाव पैदा होता है उसे प्रेम कहते हैं। शुद्ध और अशुद्ध की दृष्टि से इस के दो भाग किये जाते हैं। जिस प्रेम में स्वार्थ रहता है उसे अशुद्ध प्रेम कहते हैं और

जिस प्रेम में स्वार्थ नहीं रहता वह शुद्ध प्रेम कहलाता है। नारद आदि मुनीश्वरों ने इसी प्रेम में प्रस्तार आदि जोड़कर इसका बहुत विस्तार किया है।

३४—शब्दार्थ—सरल है।

भावार्थ—रसखानि जी कहते हैं कि जो आनन्दमय, स्वाभाविक, निःस्वार्थ, अचल और महान होता है तथा जो सदैव एक रस और शुद्ध रहता है वही सच्चा प्रेम है।

३५—शब्दार्थ—सरल है।

भावार्थ—प्रेम जिस (बीज) से उत्पन्न होता है वह बीज प्रेम और जिस (क्षेत्र) में उपजता है वह क्षेत्र भी प्रेम ही है तात्पर्य यह है कि प्रेम, प्रेम से उत्पन्न होता है और प्रेम में ही बढ़ता है।

३६—शब्दार्थ—सरल है।

भावार्थ—प्रेम जिस से पोषित होकर पनपता, बढ़ता, फूलता, फलता और महान होता है वह सब प्रेम ही प्रेम है।

३७—शब्दार्थ—सरल है।

भावार्थ—रसखानि जी कहते हैं कि जो (प्रेम) जिस से और जिस में उत्पन्न होता है तथा जिस के कारण उसे महत्ता मिलती है और वह सब प्रेम ही प्रेम है। ऐसा सम्पूर्ण संसार कहता है।

३८, ३९, ४०—शब्दार्थ—सरल है।

सन्दर्भ—रसखानि जी अपना परिचय देते हैं—

भावार्थ—रसखानिजी कहते हैं कि मैंने प्रभुता को विप्लव-कारिणी तथा दिल्ली नगर को श्मशानवत् समझकर शाही परिवार की ठसक को छोड़ दिया और फिर प्रेम निकेतन श्री वृन्दावन में आ गया। यहाँ गोवर्धन धाम में आकर श्री राधा-कृष्ण की सुन्दर युगल मूर्ति के शरणापन्न हुआ और चित्त देकर प्रभु से प्रेम किया। मैं ने भगवान् के युग-चरण-कमलों के पराग को देखकर यह 'प्रेम-वाटिका' उन्हीं के चरणों में अर्पित की है जिस से इस 'प्रेम-वाटिका' में प्रेमी-भक्त भौंरे गुजार करते रहें।



४—आनन्दघन



आनन्दघन के काव्य की पृष्ठभूमि—हिन्दी साहित्य के इतिहास में घनानन्द का उल्लेख 'रीतिकाल के अन्य कवि' के अंतर्गत हुआ है। स्वर्गीय आचार्य पं० रामचन्द्र जी शुक्ल ने इसका कारण यों लिखा है—"ये पिछले वर्ग के कवि प्रतिनिधि कवियों से केवल इस बात में भिन्न हैं कि इन्होंने क्रम से रसों, भावों, नायिकाओं और अलंकारों के लक्षण कहकर उनके अंतर्गत अपने पद्यों को नहीं रखा है। अधिकांश में ये भी शृङ्गारी कवि हैं और इन्होंने भी शृङ्गार रस के फुटकल पद्य कहे हैं। रचना शैली में किसी प्रकार का भेद नहीं है। ऐसे कवियों में घनानन्द सर्वश्रेष्ठ कवि हुए हैं।" इस उद्धरण से स्पष्ट है कि घनानन्द एक प्रेमोन्मत्त कवि थे जो रीति के बन्धन को पूर्ण रूप से तोड़ डालना चाहते थे। वास्तव में बात यह थी कि रीति-बद्ध रचना के अन्दर ये अपने हृदय का विस्तार नहीं दिखा सकते थे। प्रेम की अभिव्यक्ति के लिए हृदय का पूर्ण योग संघटित करने की अभिलाषा रखने के कारण ही इन्होंने स्वतंत्र पथ का अनुसरण किया था। बिहारी आदि कुछ कवियों ने लक्षण-ग्रन्थ लिखने वाले कवियों से थोड़ा सा पार्थक्य रखने का प्रयत्न किया था किन्तु इन की रचनाओं को देखने से पता चलता है कि इन कवियों की दृष्टि लक्षणों पर अवश्य थी और लक्षणों को लक्ष्य करके ही इन्होंने अपनी कविताएँ लिखी थीं घनानन्द जी इन कुछ स्वतंत्र कवियों से भी अधिक स्वतंत्रता

चाहते थे। मर-पचकर कविता करना इन्हें तनिक भी इष्ट नहीं था अतएव रसखानि की ही भाँति इन्हें जब जिस भाव की कविता सूझती थी, लिख जाते थे।

वर्ण्य-विषय—घनानन्द जी ने संयोग और विप्रलम्भ शृङ्गार दोनों का वर्णन किया है किन्तु वियोग शृङ्गार का अपेक्षाकृत अधिक वर्णन किया है। नायिका-भेद का निरूपण इन्होंने बिल्कुल नहीं किया है भारतीय त्योहारों विशेषकर होली और दिवाली का वर्णन भी इनकी रचना में पाया जाता है।

समीक्षा—घनानन्द जी विप्रलम्भ शृंगार के प्रधान मुक्तक कवि हैं। इन के प्रेम का स्तर बहुत ऊंचा है। प्रेम की गूढ़ अंतर्दशा का निरूपण करने के लिए इन्होंने विरोधाभास या वक्रोक्ति पद्धति का आश्रय लिया है। सम्पूर्ण रचना में विरोधाभास इतना अधिक है कि उस के द्वारा इनकी रचना की पहचान की जा सकती है। विरोधाभास का यह बहुल प्रयोग इस बात का द्योतक है कि ये प्रेम की अनिर्वचनीयता और हृदय की आंतरिक अनुभूतियों का यथार्थ चित्रण करने के लिए प्रयत्नशील हैं। इस प्रयत्न में इन्हें पूर्ण सफलता मिली है। अपने इस प्रयोग-वैचित्र्य के विषय में ये कहते हैं—

आँखिन मूँदिबो बात दिखावत, सोवनि जागनि बात दी पेखि लै।
बात सरूप अनूप अरूप है, भूल्यौ कहा तू अलेखहि लेखि लै॥
बात की बात सुबात विचारिबो, है छमता सब ठौर बिसेखि लै।
नैननि काननि बीच बसै, घनआनन्द मौन बखान सुदेखि लै॥

इनके वर्णन का ढंग इतना अनूठा है कि इनके कवित्तों को देखकर सब का मन ललचा जाता है। 'जग की कविताई' के धोखे में रहने वाले लोग इनकी कविता को पढ़कर चकित हो जाते हैं। भाषा पर अद्भुत अधिकार रखने के कारण आन-

नंदघन जी ने स्वयं यहाँ तक कह डाला है कि लोग मर पच कर कवित्त बनाते हैं पर मेरे कवित्त स्वयं मुझ को बनाते हैं—

तीछन ईछन-बान बखान सो पैनी दसान लै सान चढ़ावत।
प्रानति प्यारे भरे अति पानिप मायल घायल चोप चढ़ावत॥
यौं 'घनआनन्द' छावत भावत जान सजीवन ओर तें आवत।
लोग हैं लागि कवित्त बनावत मोहिं तो मेरे कवित्त बनावत॥

घनानन्द जी की उपर्युक्त गर्वोक्ति वास्तव में एकदम यथार्थ है। आचार्य शुक्ल जी ने इन के विषय में कहा है कि "घनानन्द जी उन बिरले कवियों में हैं जो भाषा की व्यंजकता बढ़ाते हैं। अपनी भावनाओं के अनूठे रूप-रंग की व्यंजना के लिए भाषा का ऐसा बेधड़क प्रयोग करने वाला हिन्दी के पुराने कवियों दूसरा नहीं हुआ।" घनानन्द जी ने अपनी भावनाओं को प्रायः अलंकृत ढंग से ही प्रकट किया है किन्तु ऐसी अवस्था में भी हृदय की स्थिति का सच्चा आभास दिखाना ही इनका मुख्य लक्ष्य था। अनेक स्थानों पर इन्होंने अत्यन्त चलती हुई ब्रजभाषा लिखी है। देखिए—

कारी कूर कोकिला कहाँ को बैर काढ़ति री,
कूकि कूकि अब ही करेजो किन कोरि लै।
पैंड़े परे पापी ये कलापी निसिद्यौस ज्यौं ही,
चातक! घातक त्यौं ही तू हू कान फोरि लै॥
आनन्द के घन प्रान-जीवन सुजान बिना,
जानि कै अकेली सब घेरो दल जोरि लै॥
जौ लौं करैं आवन विनोद-बरसावन वे,
तौ लौं रे डरारे बजमारे घन घोरि लै॥

कहौ कछु और, करौ कछु और, गहौ कछु और, लखावत औरै।
मिलौ सब रंग, कहूँ नहिं संग, तिहारी तरंग, तकैं मति गौरै॥

गढ़ौ बतियानि, मढ़ौ घतियानि, डढ़ौ छतियानि, निदान की ठौरैं।
महाछल छाय, छुले हौ बनाय, किते घनआनन्द! चातक दौरैं॥

बिहारी की भाँति इन पर भी फारसी काव्य की प्रेम-पद्धति का प्रभाव पड़ा था किन्तु इन्होंने उसे एकदम प्रकट नहीं होने दिया है। विरह-दशा का चित्रण इन्होंने बड़ी सावधानी से किया है। इनका वियोग अत्यन्त गम्भीर और प्रशान्त है।

संयोग शृंगार के वर्णन में इन्होंने अश्लीलता नहीं आने दी है। मार्ग में कृष्ण और गोपियों के मिलन में और उनके इंगितों व चेष्टाओं में इन्होंने उनके हृदय का ही प्रतिबिम्ब स्पष्ट करने का प्रयास किया है। बाहरी हाव-भावों का चित्रण इन की रचना में बहुत कम मिलता है। आचार-निष्ठता की ओर इनकी प्रवृत्ति पूर्णरूपेण थी इसलिए संयोग और वियोग दोनों में इनके प्रेम का प्राकृतिक विकास दिखायी पड़ता है।

भाषा और शैली—घनानन्द जी की ब्रजभाषा अत्यन्त शुद्ध और परिमार्जित है। इतनी शुद्ध ब्रजभाषा बिहारी को छोड़कर और किसी की नहीं है। भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र और बाबू जगन्नाथदास रत्नाकर को इन की भाषा बहुत पसन्द थी इन्होंने भाषा को अपनी ओर से बल प्रदान कर सशक्त बनाया है। कवित्त और सवैयों के बीच में नाद-व्यंजना का भी ये बराबर ध्यान रखते थे। इन की भाषा में जैसी वचन—वक्रता और लाक्षणिकता दिखायी पड़ती है वैसी अन्यत्र दुर्लभ है। मुहाविरों और लोकोक्तियों का भी प्रयोग इन्होंने बहुत सुन्दर किया है।

—:०::—

४—आनन्दघन

सुजान-सागर

१—शब्दार्थ—रंग अनंग जिवारी—अनंग के रंग को जागरित करने वाली, कामोद्दीपक ; जान (१) सुजान, प्रवीण (२) प्यारा ; सहजै रिझवार—सहज ही प्रसन्न होने वाले ; उदार विलास—विलास के लिए उदार हैं ; रासविहारी—रास में विहार करने वाले, लीला पुरुषोत्तम ; मनोरथ—मनोकामना ; तुमहीं—तुम्हीं ; मो मनोरथ पूरनकारी—मेरे मनोरथ पूर्ण करने योग्य हैं।

सन्दर्भ—भक्तवर घनानन्द भगवान श्रीकृष्ण से अपनी मनोकामना पूरी करने के लिए प्रार्थना करते हैं।

भावार्थ—जिन (श्रीकृष्ण) के (प्रभाव के) कारण माता का यशोदा नाम (सार्थक) हुआ और 'यदुवंश' 'चन्द्रवंश' हुआ जिसमें चन्द्रमा की कला के समान सब गुण दिखायी पड़े; उन (श्रीकृष्ण) की मूर्ति शोभा के समूह से युक्त, अत्यन्त आनन्ददायिनी और अनंग के रंग को जागरित करने वाली है। (हे श्रीकृष्ण जी !) आप अत्यन्त प्रवीण हैं। अथवा सब को बहुत प्यारे हैं, सहज ही प्रसन्न होने वाले हैं, विलास (क्रीड़ा) करने में बहुत उदार हैं और जो आपके सहवास का अभिलाषी होता है उसकी मनोकामना पूर्ण करने के लिए आप रासविहारी तक बन जाते हैं। (हे प्रभो !) मेरे मनोरथ आपके पूर्ण करने के योग्य हैं इसलिए आप ही मेरे मनोरथों को भी पूर्ण करें।

२—**शब्दार्थ**—मेरोइ जीव—मेरा जीव ही ; मारतु—सताता है, पीड़ा पहुँचता है ; आस तिहारियै—तुम्हारी ही आशा है ; जानि कैं—परिचित होकर ; पावक—अग्नि ; दहनौ—जलना।

सन्दर्भ—कोई विरहिणी गोपी अपने मन की व्यथा कहती है—

भावार्थ—हे कृष्ण प्यारे ! जब मेरा प्राण ही (मेरे वश में न रहकर) मुझे व्यथित करता है तो मैं तुमसे क्या कहूँ, तुम्हें कैसे दोषी ठहराऊँ। (अब भाग्य ने कुछ ऐसा पलटा खाया है कि प्राणों की कौन कहे, आँखों ने (जिनका बहुत भरोसा था) अपना पुराना (सुख देने वाला) स्वभाव छोड़ दिया है। जान पड़ता है, अब कुछ ऐसे ही भोग भोगने पड़ेंगे। हे आनन्द के मेघ श्रीकृष्ण जी ! मुझे तो केवल आप की ही आशा है फिर नाहक आप मुझसे क्यों उदासीन रहा करते हैं ? यदि आप मेरी इस दयनीय दशा से इतना परिचित होकर भी अनजान बन रहे हैं तब तो निश्चय ही मुझे बिना आग के जलना (बदा) है।

टिप्पणी—देखिए, प्राणों और नेत्रों द्वारा सतायी गयी वियोगिनी गोपी का दुख प्रियतम के उदासीन हो जाने पर कितना बढ़ जाता है। सचमुच बड़ी ही करुणापूर्ण स्थिति है। "बिन पावक ही दहनौ है।" में विरोधाभास अलंकार है।

३—**शब्दार्थ**—इन बाट परी सुधि—इस हिस्से में सुधि पड़ी है ; रावरे भूलनि—आप के (हिस्से) में भूलना ; उराहनो—उलाहना ; सीस चढ़ाय लई—शिर पर धारण कर लिया ; मन भाई—मन को रुचिकर लगने वाली।

सन्दर्भ—कोई विरहिणी गोपी श्रीकृष्ण को सम्बोधित करके कहती है—

भावार्थ—मेरे हिस्से में आप का स्मरण करना पड़ा है और आपके हिस्से में मेरा भूलना पड़ा है। (जब दोनों ही अपने हिस्से के अन्दर अपना निर्वाह कर रहे हैं तो फिर) मैं आपको उलाहना दूँ भी तो कैसे? हे नाथ! मैं सदा आप की (चर्चा चलाकर और आपको पाने की) आशा करके ही जी रही हूँ। किन्तु आप मेरे साथ उसी प्रकार (निष्ठुरता) का व्यवहार कर रहे हैं जिस प्रकार मेघ चातक के साथ करता है। खैर, अब तो मैंने (आपकी कृपा व निष्ठुरता) सब कुछ शिर पर धारण कर लिया है। इसलिए आपके मन को जो रुचे वही कीजिए किन्तु हे सुजान! (इतना ध्यान अवश्य रहे कि) तुम्हीं मेरे जीवन-प्राण हो और मैं तुम्हारी ही चर्चा चलाकर जीती हूँ। (इतना जान लेने पर विश्वास है, आप कृपा करेंगे क्योंकि कोई भी अपने प्रिय का आत्मघात नहीं करता।)

टिप्पणी—'घन-चातक की गति'—चातक सदा पी-पी रटता रहता है और प्यारे के दर्शन की आशा किये हुए आकाश की ओर देखता रहता है किन्तु मेघ उपलवृष्टि कर पपीहे के पंखों को भी नष्ट कर देता है अथवा एक भी बूँद पानी न देकर चातक को प्यास से मार डालता है। उपर्युक्त सवैये में कृष्ण की निष्ठुरता की ओर संकेत है।

४—शब्दार्थ—हित पीर—प्रेम की पीर; हियरो—हृदय; दुख दागनि—दुख से दागा जाना; सुख में—सुखमय; निरखे—देखे; बिखपागनि है—विष से पूर्ण होना है।

सन्दर्भ—कोई विरहिणी गोपी कहती है—

भावार्थ—हे प्यारे! मेरी जो आँखें आपके सौन्दर्य को देखकर मुग्ध हो गई थीं, वे अब नित्य जलती और जागती रहती हैं। ठीक भी तो है, जब मेरा हृदय ही प्रेम की पीड़ा से

परिपूर्ण है तो फिर ये भला कैसे लगें ? इनमें नींद कैसे आये ? हे सुजान श्रीकृष्ण जी ! (हमारी ये आँखें) हृदय को सदा दुःख की लपटों से दागती रहती हैं और आपके चन्द्र जैसे सुखमय मुख को देखे बिना ये एड़ी से लेकर चोटी तक विष व्याप्त किये रहती हैं।

टिप्पणी—देखिए, प्रियतम के आँख ओट होते ही आँख किस प्रकार सारे शरीर में विष फैला रही हैं !

५—शब्दार्थ—जीव की बात जनाइए क्योंकरि—मन की बात कैसे कही जाय; पीर न पावत—पीड़ा का अनुभव नहीं करता ; ऐसी बनी—ऐसी परिस्थिति आ गयी है ; आन न सूझत—दूसरा सूझता ही नहीं, दूसरे की ओर झुकाव ही नहीं होता ; भरेंगे बिथा—व्यथित करेंगे।

सन्दर्भ—कोई वियोगिनी गोपी प्रियतम की निष्ठुरता देखकर कहती है कि निर्मोहियों से किसी को प्रेम न करना चाहिए।

भावार्थ—मैं अपने मन की बात उस से कैसे कहूँ जो सुजान होते हुए भी अजानों से बढ़कर होता जा रहा है जो अपने कटाक्ष रूपी बाणों से मेरे हृदय को बेधकर भी पीड़ा का अनुभव नहीं कर रहा है और जो रोने और गाने अर्थात् दुःख और सुख को बराबर मान रहा है। मैं क्या कहूँ, अब ऐसी स्थिति आ गयी है कि दूसरे की ओर मेरा झुकाव ही नहीं होता, भले ही वह मुझे त्याग क्यों न दे जिससे व्यथित होकर दिन बिताना पड़े और अन्त में अपने प्राणों को भी उत्सर्ग करना पड़े। अस्तु, इससे क्या ? लोग जान तो लेंगे कि किसी को निर्मोही से प्रेम न करना चाहिए।

टिप्पणी—किसी कवि की उक्ति है—

जो मैं ऐसा जानती, प्रेम किये दुख होय।
नगर ढिंढोरा पीटती, प्रेम करो जनि कोय॥

इस के अनुसार तनिक दुख होने पर ही नायिका प्रेम न करने का ढिंढोरा पीटने की धमकी देती है किन्तु घनानन्द जी की गोपी घायल होने पर भी ढिंढोरा पीटकर नहीं प्रत्युत अपने मन में कहती है कि निर्मोही से किसी को प्रेम न करना चाहिए। देखिए, घनानन्द जी ने इस स्थल पर प्रेम का कितना सूक्ष्म और मर्मस्पर्शी चित्रण किया है।

६—**शब्दार्थ**—निहारति हीं—देखती थीं।

सन्दर्भ—कोई वियोगिनी गोपी अपने नेत्रों की दशा कहती है—

भावार्थ—जिन (प्यारे श्रीकृष्ण के सौन्दर्य को) मेरी आँखें टकटकी लगाकर देखा करती थीं, हाय! अब उन्हीं की याद में रो रही हैं और प्रियतम के चरणों के दर्शन की लालसाकर अपने पलक-पावँड़ों को आँसुओं की धारा से धो रही हैं। स्वप्न में जब इन्हें प्रियतम का दर्शन होता है तब तो ये उनको प्राप्त नहीं करतीं किन्तु उनके अलक्षित होते ही ये इस प्रकार छटपटाती हैं मानों जागृत अवस्था में बिछुड़ गयी हों हाय! ये दुःखिनी आँखें जगने पर भी सोती-सी हैं, (तात्पर्य यह है कि ये आँखें खुली तो हैं पर किसी पदार्थ को देखने का कार्य नहीं करतीं अतएव सोई हुई हैं) इनको देखकर यह नहीं ज्ञात होता कि ये आँखें खुली हुई हैं अथवा मुँदी हुई।

टिप्पणी—देखिए, यह कितना भावपूर्ण और मर्मस्पर्शी सवैया है। इसके उत्तरार्द्ध में विरोधाभास अलंकार है।

७-शब्दार्थ—रुची—प्यारी लगीं ; जियौ—जी भी, प्राण भी ; गुन—(१ गुण (२)बत्ती ; इतौ—इतना ; कौन पै आपु लियौ—आपने किससे सीखा है ; द्रोह—बैर।

सन्दर्भ—कोई वियोगिनी गोपी कहती है—

भावार्थ—हे सुजान कृष्ण ! यदि आपको मेरे अतिरिक्त दूसरे की प्रीति अच्छी लगती है तो मुझे आपके बिना अपना जी भी प्यारा नहीं लगता। तुम्हारे अंग में तुम्हारे हृदय में) अब केवल पीड़ा पहुँचाने का ही गुण रह गया है। हृदय के इस गुन (बत्ती) को वियोगाग्नि ने दीपक की भाँति जला दिया है। (भाव यह है कि वियोग के कारण हृदय को बहुत पीड़ा पहुँच रही है) मैं क्या कहूँ, हे प्यारे ! जरा बताओ तो सही कि इतना रूठना आपने किससे सीखा है ? हे सुजान ! आप स्नेही कहलाकर, प्रेम दिखलाकर इस प्रकार क्यों द्रोह कर रहे हैं ?

८-शब्दार्थ—परकाजहिं—परोपकार के लिए ; निधि-नीर—समुद्र ; सुधा—अमृत ; बिसासी—विश्वासघाती।

सन्दर्भ—कोई वियोगिनी गोपी मेघ से श्रीकृष्ण के पास जाने के लिए कहती है—

भावार्थ—हे मेघ ! तुम परोपकार के लिए ही शरीर धारण करते हो इसलिए तुम अपने 'परजन्य' नाम को सार्थक

करो। तुम समुद्र के खारी जल को अमृत के समान मीठा बना कर बरसते हो। तुम में सब प्रकार की सज्जनता पायी जाती है। तुम सब को जीवनदान देते हो, इसलिए तनिक मेरी पीड़ा का भी अनुभव अपन मन में करो। (तुम से मेरा निवेदन केवल यही है कि) कभी इस विश्वासघाती सुजान के आँगन में मेरे आँसुओं को लेकर बरस जाओ।

टिप्पणी—मेघदूत की यह रमणीय कल्पना कितनी अनूठी है।

९–शब्दार्थ—धुनि—ध्वनि ; पूरी रहै—समाई रहती है ; अज—कामदेव ; मनमोहन गोहन जोहन के—श्रीकृष्ण के साथ जाने व प्रतीक्षा करने की ; अभिलाप—इच्छा ; समाजिबोई सी करै—उत्पन्न सी करती है ; बिन बाजेई—बिना बजे हुए ही ; बाजिबोई-सी करै—बजती सी रहती है।

सन्दर्भ—बाँसुरी की गूँज सुनकर कोई गोपी अपनी सखी से कहती है—

भावार्थ—हमारे कानों में नित्य मुरली की ध्वनि गूँजती रहती है और कामवासना जागरित सी करती रहती है। यह मनमोहन को देखने और उनके साथ जाने की इच्छा-सी उत्पन्न करती रहता है। यह अत्यन्त तीक्ष्ण बाणों की भाँति ऊँची तानों से सुर निकालने का प्रयत्न करती है। (हे सखी !) यह बैरिनि बाँसुरी जाने किधर से बिना बजे ही बजती-सी रहती है।

टिप्पणी—'बिन बाजेई बाजिबोई सी करै' में विरोधाभास अलंकार है।

१०–शब्दार्थ—नेह—प्रेम ; निरधार—निरवलंब ; रस प्यास कै—आनन्द देकर, बिसास—विश्वास।

सन्दर्भ—कोई गोपी श्रीकृष्ण को उपालम्भ देती है।

भावार्थ—हे सुजान कृष्ण! जब आपने एकबार मुझे प्रेमपूर्वक अपना लिया तो फिर क्यों इस प्रेम को तोड़ रहे हैं? मुझ निरवलम्ब को मँझधार में सहारा देकर आप फिर क्यों बाँह पकड़कर डुबा दे रहे हैं, ऐसा न कीजिए नाथ! हे आनन्द के मेघ! अपने चातक (मुझ) को प्रेम की रस्सी से बाँध कर न छोड़िए अथवा हे आनन्दघन! चातक की भाँति अपने गुणों से मुझे रिझाते रहिए, इसका मोह न छुड़ाइए। हे प्रभो! आपके आनन्द-रस को पीकर मैं जीवित हुआ और मेरी आशाएँ बढ़ीं। अब जब कि आपके प्रति हमारा विश्वास पक्का हो चुका तो फिर विष घोलकर (विश्वासघात कर) क्यों आप इसे नष्ट कर रहे हैं?

टिप्पणी—इस सवैये के पूर्वार्द्ध में प्रेम की अनिर्वचनीय स्थिति दिखायी गयी है।

११—शब्दार्थ—मनौं ढरकौहीं बानि दै—मन में दया की टेव पैदा कर; सुखदानि दुखयानि दै—दुखियों को सुख का दान कर; बैठे पीठि पहिचानि दै—परिचय करके विमुख हो गये हैं; बिरह-बिथा को मूरि—बिरह की व्यथा के लिए संजीवनी के समान; नैकु आनि दै—थोड़ी सी ला दे।

सन्दर्भ—कोई गोपी पवन को दूत बनाकर श्रीकृष्ण के पास चरण-रज लेने के लिए भेज रही है।

भावार्थ—ऐ वीर पवन! तेरी गति सर्वत्र है, तेरे समान कोई नहीं है। मैं तुझ पर बलिहार हूँ तनिक तू अपने मन को द्रवीभूत तो कर। जगत के समस्त छोटे बड़े प्राणी तुझे समान रूप से प्यारे हैं और तू आनन्द रूपी मेघ का भण्डार है इसलिए तू दुखियों को सुखी कर। देख, मेरे अत्यन्त प्रिय, गुणवान और

कान्तिमान सुजान कान्ह मुझसे पहले प्रेम कर अब निर्मोही की भांति विमुख हो गये हैं, मैं उनके विरह से बहुत दुखी हूँ इसलिए तू जाकर उनके चरणों की थोड़ी सी धूल, जो कि विरह की व्यथा को संजीवनी के समान नष्ट करने वाला है, ला दे। मैं इस (चरण-रज) को आँखों में लगाऊँगी।

टिप्पणी—देखिए, प्रेम की कितनी ऊँची भावना है।

१२—शब्दार्थ—राति द्यौस—रात दिन ; दहै दुख—दुख से जलाता है ; जान प्यारे—प्यारे सुजान ; तिहारे की—तुम्हारी।

भावार्थ—कोई वियोगिनी गोपी कहती है कि मैं इस बज्रमारे वियोग की गति क्या कहूँ, यह रात-दिन अपनी सेना सजाये हुए मुझे दुख देता रहता है। अब इसने बेचारे प्राण को अलग करके मुझे घेर लिया है। युक्ति और शक्ति से हीन मेरे प्राणों का अब कुछ भी वश नहीं चलता है। (वे अलग छटपटा रहे हैं) हे प्यारे सुजान ! ऐसे अवसर पर आप हमारी गुहार क्यों नहीं लगते ? (मैं सहायता के लिये चिल्ला रही हूँ फिर हमारी सहायता करने क्यों नहीं आते ?) यदि आप हमारी इस गुहार पर नहीं आयेंगे तो ये प्राण आप को अंतिम नमस्कार कर प्रतिज्ञा-बद्ध वीर की भाँति प्रण करके प्रेम के रणक्षेत्र में निकल पड़ेंगे और वहीं (विरह की सेना से लड़ते हुए) जूझ जायेंगे। जब प्रेम के रणक्षेत्र की धूलि में हमारा शरीर चूर-चूर होकर मिल जायेगा तब तुम्हारी (बदनामी की, कहानी चलेगी। (लोग कहेंगे कि तुम्हारी प्रेयसी विरह द्वारा मार डाली गयी, पर धिक्कार है कि उस बेचारी की तुम कुछ भी सहायता नहीं कर सके।)

१३—शब्दार्थ—इन्दीवर—कमल ; गुही—गूँथी गयी ;

सुही माल—हृदय की सुन्दर माला ; न परै गनै—कहते नहीं बनता ।

सन्दर्भ—मुरली की ध्वनि किसी गोपी के हृदय में तीक्ष्ण बाण की तरह चुभ गयी है जिससे वह अचेत हो गयी है। इस गोपी की शोचनीय दशा देखकर उसकी सखी श्रीकृष्ण से मुरली बजाना बन्द करने का अनुरोध करती है—

भावार्थ—हे गोपाल ! कमल पुष्पों से मिलाकर बनायी गयी सोनजुही की सुन्दर माला आपके कंठ में पड़कर ऐसी शोभा दे रही है कि उसका वर्णन नहीं हो सकता पीले दुपट्टे को आपने शिर पर उलटा करके रक्खा है। मस्तक में केशर का जो तिलक लगा हुआ है वह भी अपनी अद्भुत शोभा प्रकट कर रहा है। आपने जब आनन्दित होकर मुरली में गौरी ध्वनि बजायी तो (मेरी सखी अचेत होकर द्वार पर ही गिर गयी और) उस समय उसके द्वार पर जोरों से रोना-पीटना मच गया। हाय ! हाय !! मैं क्या कहूँ ? हे सुजान कान्ह ! (अपनी मुरली का बजाना बन्द कर) उसे तनिक प्राणदान दीजिए जिससे वन से सजकर आते हुए आपकी सुन्दर शोभा को वह भली-भाँति देख ले।

टिप्पणी—इस कवित्त में मुरली का प्रभाव वर्णित है।

१४—शब्दार्थ—सरल है।

भावार्थ—कोई गोपी कहती है कि मेरे प्यारे जो रंगीले रसिया हैं, भली भाँति छविमान लगने वाले हैं, आनन्द के घन हैं, माधुर्य से ओत-प्रोत रहने वाले हैं तथा जो सच्चे सुख के सार-स्वरूप हैं वे सुन्दर सुजान श्याम कृपा के भण्डार हैं, प्रेम और प्रसन्नता की साक्षात मूर्ति हैं, अकारण ही दूसरे पर द्रवित हो जाने

वाले हैं, प्रेम के थाले हैं (प्रेम को उत्पन्न करने वाले और उसकी वृद्धि करने वाले हैं) निरवलंब प्राणी के लिए कल्पतरु के समान हैं, कीर्ति के चन्द्रमा हैं, प्रेम के सागर हैं तथा प्रेमियों के संग में नित्य रहने वाले हैं ऐसे उदार स्वभाव के त्रिभंगी मनमोहन कृष्ण जी मेरे प्राणों के आधार हैं।

१५-शब्दार्थ—सरल है।

भावार्थ—यमुना की शोभा देखने से आँखों को जो सुख मिलता है उसका वर्णन नहीं हो सकता वास्तव में उनकी शोभा तो देखते ही बनती है। राधिका की पीत और श्रीकृष्ण की नील वर्ण की कांति परस्पर मिलकर जो छवि उत्पन्न करती है उसी छवि को यमुना जी ने धारण किया है इस प्रकार इनके दर्शन से ही युगल-सरकार के आदर्श रूप के भी दर्शन हो जाते हैं। इन्होंने राधा और कृष्ण की गुप्त और प्रकट भावना को विशेष रूप से अपनाया है। जिस प्रकार अंजन की लकार आँखों के दोनों किनारों पर खिंचकर उस का शृंगार करती है उसी प्रकार (यमुना के) दोनों किनारे यमुना का शृंगार कर उन्हें दर्शनीय बनाते हैं। इन की चंचल लहरों की गति देखने ही योग्य है क्योंकि ये सदा ही माधुर्य की वृष्टि करती रहती हैं।

टिप्पणी—इस में यमुना की शोभा का वर्णन अनूठे ढंग से किया गया है।

१६-शब्दार्थ—आपुहि तें—स्वयं ही, अपने आप; हेरि—देखकर; अनीति—अन्याय; प्रीति के भाव में—प्रेम-भाव में।

सन्दर्भ—प्यारे श्री कृष्ण के दर्शन के लिए तरसती हुई कोई गोपी कह रही है—

भावार्थ—हे कृष्ण प्यारे! पहले आप ही अपने मन से मेरी ओर आकृष्ट हुए और प्रेम के चाव में आकर अपने नेत्रों को तिरछा कर हँसे। (इस प्रकार अपनी मोहिनी से मेरा मन हर लिया) पर हाय दैया! अब यह सुधि कैसे आपने भुला दी है? बताओ, अब मैं क्या करूँ, कहाँ जाऊँ? हे प्यारे सुजान! प्रेम-भाव में किसी को फँसाकर उस के साथ इस प्रकार का अन्याय न करना चाहिए। बताओ, एक ही गावँ में रहकर भी तुम अपनी मोहिनी मूर्ति के दर्शन के बिना हमें क्यों तरसा रहे हो?

टिप्पणी—पहले प्रेम करने को लालायित होना फिर प्रेम हो जाने पर अत्यन्त निकट रहकर प्रेयसी को दर्शन के लिए तरसाना सचमुच बड़ा अन्याय है।

१७—शब्दार्थ—सरल है।

भावार्थ—कोई गोपी कहती है कि हे श्रीकृष्ण जी! आप अपने इन न बोल सकने वाले नेत्रों को इस प्रकार न चलाइए। ये बाण के समान लगते हैं अब इनसे आहत होकर मैं कैसे जीवित रह सकूँगी? आप आनन्दस्वरूप हैं, सब को आनन्दित करने वाले हैं इसलिए सुख के दाता होकर आप दुःख न दीजिए। हे प्यारे सुजान! मेरे इस निवेदन को आप हृदय से स्वीकार करें। हाय दैया! एक ही गावँ में (अत्यन्त निकट) रहकर आप को अपना चित्त इतना कठोर न बनाना चाहिए।

१८—शब्दार्थ—असानि=मानहीन; रसाक्रसिन्धु प्रीति—प्रेम के अमृतमय समुद्र; निकेत नीति-रीति के—मर्यादा पुरुषोत्तम।

भावार्थ—हे सुजान ! मैं क्या कहूँ ? आप कृपा के आश्रय भण्डार हैं और अप्रतिष्ठित व्यक्तियों को प्रतिष्ठा देने वाले हैं। आपकी समता करने वाला कोई भी नहीं है, आप प्रेम के मधुर रस से भरे हुए समुद्र हैं, विश्वास के सच्चे हैं मर्यादा पुरुषोत्तम हैं और अपनी कृपा-दृष्टि से सब को जीवन प्रदान करने वाले हैं। आप स्वयं देखिए कि आपकी कैसी मोहिनी मुझ पर पड़ी हुई है। मेरी आप से प्रार्थना है कि आप निकट उपस्थित होकर मेरे साथ विहार करें, प्रेम रंग में भीगें, आनन्द रूपी मेघ बनें और विनोद बढ़ायें किन्तु यदि आप स्वयं (किसी कारणवश) न आ सकें तो मुझे ही बुला लें।

१६-शब्दार्थ—सरल है।

भावार्थ—आनन्दघन जी कहते हैं कि कितने ही राजा इस सुन्दर देश में सुखपूर्वक राज्य कर अमर हो गये किन्तु हमें इसकी तनिक भी तृष्णा नहीं है क्योंकि कृपालु भगवान की कृपा का राजछत्र हमारे शिर पर सदैव शोभायमान रहता है। (भाव यह है कि भगवत्-कृपा के समक्ष राजाओं का ऐश्वर्य कुछ भी नहीं है।)

२०-शब्दार्थ—सरल है।

भावार्थ—आनन्दघन जी कहते हैं कि हे प्रभो ! मुझ जैसे अपरिचित को आपके अतिरिक्त और कौन पहचान सकता है। जिस प्रकार आपके नेत्रों में कृपा के कान छिपे हुए हैं उसी प्रकार मेरी मौन चेष्टा में पुकार छिपी हुई है। (भाव यह है कि मेरी दशा (मौन पुकार) देखकर ही आप सारी परिस्थिति समझ जाते हैं और तुरन्त ही कृपा कर देते हैं।)

२१-शब्दार्थ—सरल है।

भावार्थ—आनन्दघन जी कहते हैं कि हे प्रभो ! यद्यपि आप से मेरा तनिक परिचय नहीं है तो भी आप मुझे अपना कृपा के राज्य में रहने देते हैं। यह जानकर मैं बहुत ही प्रसन्न हूँ।

विरहलीला

२२—**शब्दार्थ**—सरल है।

सन्दर्भ—महारास करते समय जब श्रीकृष्ण जी अचानक अदृश्य हो गये तो गोपियाँ उनके वियोग में विह्वल हो विलाप करने लगीं।

भावार्थ—प्यारे साँवरे कृष्ण ! तुम क्यों नहीं हमारे पास आते ? तुम क्यों नहीं दर्शन की प्यास से मरती हुई हम गोपियों को आकर जिलाते ? प्यारे ! बताओ, तुम कहाँ छिपे हो, कहाँ छिपे हो, कहाँ छिपे हो ? तुम जहाँ पर हो वहीं हमारे ये प्राण तुम्हीं से लगे हुए हैं। हे प्यारे ! तुम्हारे कारण ही तो हम रात-दिन जागती रहीं फिर अब तुम क्यों नहीं हमारी निगाहों के सामने आते ? हे प्यारे ! हमारे हित की बातें सोचकर ऐसो (अनहोनी) न कीजिए ! हम सब तो तुम्हारे वियोग में पागल हो गयी हैं। तब (रास रचाते समय) तो तुमने बड़े प्रेम से सुख देने वाली बातें की थीं (फिर अब यह क्या कर रहे हो ?) जरा सोच विचार कर अपनी इस दुख देने वाली चाल को दूर करो। सचमुच तुम बुरे हो, बुरे हो, बुरे हो, तभी तो सब को अकेली छोड़कर इस प्रकार छिप गये हो।

टिप्पणी—वर्णन स्वाभाविक है। "बुरे हो जू, बुरे हो जू, बुरे हो।" में देखिए कैसा, मिठास है !

२३—**शब्दार्थ**—पाती—चिट्ठी।

भावार्थ—प्यारे! हम तुम्हें चिट्ठी कैसे लिखें? पत्र लिखते समय तो हमारी छाती दरक कर दो टूक हो जाती है और आँखों से आँसुओं की झड़ी लग जाती है। अब तो ऐसा खटका हो रहा है कि कहीं तुम्हारा संदेश वन और उसके जीवों को जला न दे। हे प्यारे! तुम आकर इस संकटपूर्ण स्थिति को देख जाओ। हाँ, यदि प्रत्यक्ष न देख सको तो अनुमान करके यहाँ की स्थिति को अच्छी तरह परख लो। हे प्यारे! हमारी जैसी अनोखी पीड़ा किसको हो सकती है? हम मौनावस्था में तुम्हें पुकार रही हैं। क्या कहूँ, कुछ कहते नहीं बनता।

टिप्पणी—गोपियों के मन की कसक और पीड़ा इसमें दर्शनीय है। प्रारम्भ की दो पंक्तियों में अतिशयोक्ति है।

२४—**शब्दार्थ**—कान बोले—कान में सुनाई पड़ती है।

भावार्थ—हे प्यारे कृष्ण! तुम्हारे मिलन की आशा मुझसे नहीं छूटती। मेरा प्रेमोन्मत्त मन अब तुम से जिस प्रेम-शृंखला द्वारा बँध गया है, वह तोड़ने से नहीं टूट सकती। हमें अब भी ऐसा लगता है मानों तुम्हारी बाँसुरी की ध्वनि हमारे कानों में सुनाई पड़ रही है और हम सब तुम्हारे संग घूम रही हैं। तुम्हारी साँवरी मूर्ति हमारी आँखों के आगे घूम रही है और तुम्हारे कटाक्ष बाण की तरह चुभ रहे हैं। तुम्हारे मुकुट की लटकन हमारे हृदय में हिल रही है और तुम्हारी बाँकी चितवनि (शूल की भाँति) चुभ रही है। हँसने की अवस्था में तुम्हारे दाँतों की चमक इस प्रकार कौंधती है मानों वह जादू मारकर हमारे वियोगी नेत्रों को चकाचौंध कर देती है। तुम्हारे ओठों को देखकर हमारे प्यासे नेत्र उधर ही दौड़ रहे हैं। हम सदैव निष्प्राण-सी होकर विवश और पागल हो रही हैं। काम-

देव जब अचानक आकर मुझे सताता है तो बताओ उस समय की दशा कौन कैसे बताये ? उस समय आँखों से आँसुओं की धार इस प्रकार वह निकलती है मानों विरह हमारे शिर पर आरा चला रहा हो और आरे की रगड़ से रक्त के फव्वारे छूट रहे हों) हे प्यारे! इतना हो चुकने पर भी यदि हम पीड़ित नहीं होंगी तो फिर कब पीड़ित होंगी और फिर क्यों हमारे बेचारे विरही प्राण ही रहने लगें ? प्यारे ! बताओ, यदि जल ही जलाता है तो फिर और कौन शीतलता प्रदान कर सकता है और यदि अमृत ही मारने का कार्य करता है तो फिर हमें कौन जिला सकता है ? हाय दैव ! यदि चन्द्रमा से अंगारे झड़ने लगेंगे तो फिर चकोरों की क्या दशा होगी ?

टिप्पणी—इसमें विरह का उत्कृष्टता से वर्णन किया गया है। संसार में कौन ऐसा अरसिक होगा जिसका हृदय गोपियों के इस विलाप पर पसीज न जाय। निश्चय ही आनन्दघन जी ने इस वियोग श्रृंगार के लिखने में कलम तोड़ दी है। इसमें कोई ऐसी पंक्ति नहीं जो हृदय पर अपना करुण प्रभाव न जमाती हो। इसमें विरोधाभास अलंकार है।

२५—शब्दार्थ—सुरत कीजै—सुधि लीजिए।

भावार्थ—हे प्यारे ! हम तुम्हारे नाम पर अपने प्राणों को निछावर करती हैं। हम चाहती हैं कि तुम जहाँ भी रहो, सुखी रहो। मेरे मनमोहन ! हम तुम्हें रात-दिन यह आशीर्वाद देती रहती हैं कि तुम हम पर जितनी निर्दयता का व्यवहार करना चाहो, करो। ये सभी हमारे लिए संजीवनी की भाँति तोषप्रद होंगी। हम चाहती हैं कि हमारे प्यारे कन्हैया को कहीं लू न लगे। हमें जैसी सुहावनी वायु मिलती है वैसी ही प्यारे को भी मिले। हे प्यारे ! तुम हमारी सुधि तो लो, क्योंकि इस प्रकार भूल

जाने हमारी तुम्हारी कैसे बनेगी ? बताओ, हम विरहिणियाँ कब तक तुम्हारे मिलने की घड़ी गिनती रहें ?

टिप्पणी—गोपियाँ इस पद में अपने प्यारे को आशीर्वाद दे रही हैं। उन्हें अब प्रिय की कसीसैं संजीवनी हो रही हैं अर्थात् वे अब विरह में ही सुख मानने लगी हैं। प्रेम की ऐसी दशा धन्य है !

२६—शब्दार्थ—ब्रजनाथ—श्रीकृष्ण।

भावार्थ—हे श्रीकृष्ण प्यारे ! अब तो हमें प्रेम करने की लज्जा का ध्यान रखना है इसलिए संसार को प्रकाशित करने वाले हे प्यारे ! तुम आओ और हमारे शिर पर विराजो। तुम्हारे साथ रहने में हमें सदैव सुख मिलेगा। ऐ छबीले ! हम सदा तुम्हारे पीछे-पीछे फिरती रहेंगी। तुम्हें देखने में, तुम से भेंटने में, तुम्हारे साथ सोने-जागने, उठने-बैठने और चलने में सर्वत्र हमें आनन्द ही आनन्द मिलेगा।

५—बिहारीलाल



बिहारी के काव्य की पृष्ठभूमि—बिहारी के आविर्भाव के समय दिल्ली के राजसिंहासन पर मुगल सम्राट शाहजहाँ विराजमान थे। इस समय तक सभी हिन्दू नरेश दिल्लीश्वर की अधीनता स्वीकार कर चुके थे और उनकी हाँ हुजूरी में रहने लगे थे। आंतरिक उपद्रवों का अभाव होने के कारण देश में सर्वत्र शान्ति विराजती थी। संघर्ष से निश्चिन्त होने पर मुसलमानों का ध्यान विलासिता की ओर विशेष रूप से आकृष्ट हुआ। फिर क्या था, दिल्ली शृङ्गार और विलासिता का केन्द्र बन गयी। दिल्लीश्वर के दरबार को रंगशाला में परिवर्तित हुआ देखकर हिन्दू राजाओं ने भी अपने यहाँ शृंगार की धूम मचायी। अब उनकी दृष्टि में हर समय शृंगार ही शृंगार दिखयी पड़ने लगा। ऐसे अवसर पर धन और प्रतिष्ठा के लोभ से बड़े-बड़े विद्वान् और कविगण भी राजदरबारों का आश्रय ग्रहण करने लगे और अपने आश्रयदाता राजाओं की रुचि के अनुसार नायिका भेद जैसे घोर शृङ्गार-प्रधान ग्रन्थों की रचना करने लगे। इन कवियों को इनकी आवश्यकता के अनुसार उपासना का आवरण पहने हुए कुछ शृंगारिक रचना ब्रज के भक्त कवियों से परम्परा के रूप में प्राप्त हुई इस प्रकार की रचना से इन कवियों को प्रोत्साहन मिला और इन्हें अश्लील से अश्लील शृंगार-रचना करने में कोई हिचक न हुई। बिहारीलाल जी ने भी तत्कालीन कवियों की भांति जयपुर के मिर्जा राजा जयशाह का आश्रय लिया और उनकी आज्ञा से अपनी सतसई का निर्माण किया।

वर्ण्य-विषय—यद्यपि 'बिहारी-सतसई' श्रृंगार-प्रधान मुक्तक काव्य है किन्तु इसमें भक्ति और नीति सम्बन्धी दोहे भी पर्याप्त संख्या में पाये जाते हैं। बिहारीलाल जी ने श्रृंगार के दोनों पक्षों संयोग और वियोग पर रचना की है। इन्होंने संयोग श्रृंगार के अंतर्गत नायिका का नखशिख-वर्णन और आभूषण-वर्णन के अतिरिक्त नायक-नायिका की क्रीड़ाएँ, चेष्टाएँ, हाव-भाव और मनोविनोद का वर्णन किया है। इन्होंने ऋतुओं का वर्णन भी किया है। वियोग पक्ष में इन्होंने पूर्वराग, मान और प्रवासजन्य-विरह का वर्णन किया है।

समीक्षा—हिन्दी साहित्य के श्रृंगार-ग्रन्थों में जितनी प्रतिष्ठा और प्रसिद्धि 'बिहारी-सतसई' को मिली है उतनी अन्य किसी भी ग्रन्थ को नहीं प्राप्त हो सकी। बिहारीलाल जी ने जिस समय अपनी सतसई का निर्माण किया उस समय से लेकर आज तक वह सुरसिक साहित्य-प्रेमियों एवं साहित्य-मर्मज्ञों का हृदय-हार होती आयी है। अब तक इसकी पचासों टीकाएँ गद्य व पद्य में हो चुकी हैं। इसकी सबसे प्रसिद्ध और प्रामाणिक टीका 'बिहारी-रत्नाकर' है। इसे तैयार करने में स्वर्गीय कविवर 'रत्नाकर' जी ने लगभग २२ वर्ष व्यतीत किये। इस ग्रन्थ की टीकाएँ हिन्दी में ही हुई हों, ऐसी बात नहीं है। संस्कृत, फारसी, उर्दू और गुजराती तक में इसके अनुवाद हुए हैं। हिन्दी के बहुतेरे कवियों ने इनके दोहों को लेकर छप्पय, कुण्डलिया, कवित्त और सवैये लिखे हैं। इनकी भाषा, भाव, और शैली का अनुकरण और अपहरण बहुत से कवियों ने किया है पर कोई भी इनकी टक्कर का नहीं हो सका है। आलोचना के क्षेत्र में भी बिहारी को लेकर खूब लिखा पढ़ी हो चुकी है। मिश्रबन्धुओं का 'हिन्दी नवरत्न' पं० पद्मसिंह शर्मा का 'संजीवन-भाष्य', पं० कृष्ण बिहारी मिश्र

का 'देव-विहारी' लाला भगवानदीन का 'बिहारी-देव' पं० लोकनाथ द्विवेदी का 'बिहारी दर्शन' और पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र की 'बिहारी की वाग्विभूति' बिहारी-साहित्य के समालोचनात्मक ग्रन्थ हैं। बिहारी के आलोचनात्मक साहित्य की इति यहीं तक नहीं है प्रत्युत वह इतिहास-ग्रन्थों और फुटकल लेखमालाओं के रूप में यत्र-तत्र बिखरा हुआ पाया जाता है।

इस विवरण से स्पष्ट है कि बिहारी ने अपने काव्य-गुणों की बदौलत ही इतना सम्मान प्राप्त कर लिया है। इनके दोहे वस्तुतः 'गागर में सागर' की उक्ति को चरितार्थ करते हैं तभी तो किसी ने कहा है—

सतसैया के दोहरे, ज्यों नावक के तीर।
देखन में छोटे लगैं, घाव करैं गम्भीर॥

बिहारी में बड़े से बड़े प्रसंगों को अत्यन्त संक्षिप्त करके उसे अनूठे ढंग से वर्णन करने की बहुत बड़ी शक्ति थी इस लिए इन्होंने जिस दोहे को उठाया है उसे उसके लक्ष्य तक कुशलता के साथ पहुँचाया है। मुक्तक-रचना में जो भी विशेषताएँ होनी चाहिए, वह सभी सतसई में चरम उत्कर्ष को प्राप्त हुई देखी जाती हैं। अलंकारों की योजना में इन्होंने बड़ी ही निपुणता दिखायी है। शब्दालङ्कारों और अर्थालङ्कारों का जितना सुन्दर और स्पष्ट उदाहरण इनकी रचना में प्राप्त होता है वैसा लक्षण ग्रन्थों में ढूंढ़ने पर भी नहीं मिलता। इनकी यह विशेषता अलंकार शास्त्र के गम्भीर अनुशीलन और अभ्यास की द्योतक है। देखिए—

पल सोहैं पगि पीक-रँग, छल सोहैं सब बैन।
बल सोहैं कत कीजियत, ए, अलसोहैं नैन॥
बर जीते सर मैन के, ऐसे देखे मैं न।
हरिनी के नैनानु तें, हरि ! नीके ये नैन॥

अजौं तरयौना हीं रह्यौ, श्रुति सेवत इक अंग।
नाक-बास बेसरि लह्यौ, बसि मुकुतन के संग॥
दृग उरझत टूटत कुटुम, जुरत चतुर चित प्रीति।
परति गाँठि दुरजन-हियैं, दई, नई यह रीति॥

बिहारी के बहुत से दोहे 'आर्या-सप्तशती', 'गाथा सप्तशती' और 'अमरुक शतक' की छाया लेकर बने हैं किन्तु पं० पद्मसिंह शर्मा ने परस्पर तुलना कर के यह सिद्ध कर दिया है कि बिहारी ने अपनी प्रतिभा के बल से दोहों में मूल से भी अधिक उत्कृष्टता ला दी है। बिहारी की काव्य-दृष्टि बहुत व्यापक थी। इसका परिचय हमें उनकी गणित, वैद्यक, ज्योतिष, पुराण, दर्शन राजनीति तथा समाज नीति सम्बन्धी उक्तियों को देखकर मिल जाता है किन्तु इन उक्तियों के सहारे उन्हें उक्त विषयों का अधिकारी विद्वान नहीं कहा जा सकता।

शृंगार के क्षेत्र में बिहारी ने संयोग और वियोग दोनो का वर्णन किया है। संयोग शृङ्गार में इन्होंने नायिका-भेद, नखशिख-वर्णन और हाव-भावों का विश्लेषण ही प्रमुख रूप से किया है। प्रेम के विषय का विस्तार इनकी रचना में नहीं प्राप्त होता इन्होंने प्रायः परम्परा से चले आते हुए प्रेम-प्रसङ्गों का ही वर्णन किया है किन्तु अपने वाग्वैदग्ध्य और उक्ति-वैचित्र्य द्वारा उस में अनूठापन ला दिया है। मर्मस्पर्शी प्रसंगों के चुनाव में भी बिहारी ने खूब पटुता दिखायी है। प्रेम की स्वाभाविक और सच्ची अभिव्यंजना बिहारी के कई दोहों में अत्यन्त उत्कृष्ट हुई है। देखिए—

उड़ति गुड़ी लखि ललन की, अँगना-अँगना माँह।
बौरी लौं दौरी फिरति, छुवति छबीली छाँह॥
पिय कैं ध्यान गही-गही, रही वही ह्वै नारि।
आपु-आपु हीं आरसी, लखि रीझति रिझवारि॥

इहिं काँटैं मों पाइ गड़ि, लीनी मरत जिवाइ।
प्रीति जतावत भीति सौं, मीत जु काढ़्यो आइ॥

अब तनिक नायक और नायिका की क्रीड़ाओं और चेष्टाओं का भी अवलोकन कीजिए—

बतरस लालच ललन की, मुरली धरी लुकाइ।
सौंह करैं, भौंहनि हँसैं, देन कहैं नटि जाइ॥
उन हरकी हँसि कै इतै, इन सौंपी मुसकाइ।
नैन मिले मन मिलि गए, दोऊ मिलवत गाइ॥
दोऊ चोर मिहीचनी खेल, न खेलि अघात।
दुरत हियैं लपटाइ कै, छुवत हियैं लपटात॥

संयोग शृंगार के अंतर्गत बिहारी ने विपरीत रति के कुछ अश्लील दोहे भी लिखे हैं किन्तु ऐसे दोहे परिमाण में बहुत ही कम हैं। जान पड़ता है कि बिहारी ने ऐसे दोहों को लिखकर परम्परा का निर्वाह-मात्र किया है। बिहारी का विरह-वर्णन बहुत कुछ ऊहात्मक हुआ है। विदेशी प्रभाव के कारण ही बिहारी ने यह कलाबाजी और उछलकूद दिखाई है किन्तु संतोष की बात है कि ऐसे प्रसंगों का उन्होंने भारतीयकरण कर डाला है। जायसी की तरह विरह के अंतर्गत मांस आदि भूँजने का प्रसंग लाकर इन्होंने वर्णन को वीभत्स नहीं बनाया है। देखिए—

औंधाई सीसी, सुलखि, विरह बरति बिललात।
बिच ही सूखि गुलाब गौ, छींटौ छुई न गात॥
छाले परिबे के डरन, सकै न हाथ छुवाइ।
झिझकत हियैं गुलाब कैं, झवाँ झवावति पाइ॥
इत आवत चलि जात उत, चली छ सातक हाथ।
चढ़ी हिंडोरे सी रहै, लगी उसासन साथ॥
आड़े दै आले बसन, जाड़े हूँ की रात।
साहस ककै सनेह बस, सखी सबै ढिग जात॥

सीरैं जतननि सिसिर ऋतु, सहि बिरहिन तन तापु।
बसिबे को ग्रीषम दिननु, पर्‌यो परोसिनि पापु॥

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि बिहारी ने प्रसंगों की ऊहा करने में जितनी शक्ति लगायी है यदि इतनी ही शक्ति इन्होंने स्वतंत्र प्रसंगों की उद्भावना करने में लगाई होती तो इनका गौरव और भी ऊँचा हो जाता। ऋतुओं का वर्णन इन्होंने प्रायः उद्दीपन विभाव के रूप में ही किया है पर कहीं-कहीं स्वतंत्र रूप से भी किया है जो अत्यन्त उत्कृष्ट है। देखिए—

छकि रसाल सौरभ सने, मधुर माधुरी गंध।
ठौर ठौर झौंरत झँपत, भौंर झौंर मधु अंध॥
बैठि रही अति सघन बन, पैठि सदन तन माँह।
देखि दुपहरी जेठ की, छाँहौं चाहति छाँह॥
पावस घन अँधियार महँ, रह्यौ भेद नहिं आनु।
राति द्यौस जान्यो परत, लखि चकई चकवानु॥

बिहारी के नीति सम्बन्धी दोहे उनकी अनुभूत घटनाओं के व्यंजक हैं और भक्ति सम्बन्धी दोहे उनके हृदय की करुण अभिव्यक्ति हैं।

भाषा और शैली—बिहारी की भाषा चलती हुई साहित्यिक ब्रजभाषा है। समास-शैली का आश्रय लेकर इन्होंने अपनी काव्य-भाषा को पूर्ण सशक्त और अभिव्यञ्जक बनाने का प्रयत्न किया है। शब्दों का जैसा सुन्दर संगठन और व्याकरण-सम्मत शुद्ध प्रयोग इन्होंने किया है वैसा ब्रज के अन्य कवि नहीं कर सके हैं। इनकी काव्य-भाषा को एक निश्चित प्रणाली पर चली हुई और सुव्यवस्थित देखकर स्वर्गीय बाबू जगन्नाथदास 'रत्नाकर' ने लिखा है कि "ब्रजभाषा का व्याकरण

प्रस्तुत करने के लिए यदि 'बिहारी सतसई' आधार बनाई जाय तो एक अच्छा व्याकरण प्रस्तुत हो सकता है। जहाँ कमी पड़ेगी उसके लिए घनानन्द से सहायता ली जा सकती है।" बिहारी ने शब्दों को तोड़ने-मरोड़ने और उन्हें विकृत करने का बहुत कम प्रयास किया है। वास्तव में इनकी भाषा अत्यन्त मँजी हुई, प्रौढ़ और प्रांजल है। इस में ब्रज के ठेठ शब्दों के अतिरिक्त अवधी और बुंदेलखण्डी के भी शब्द पाये जाते हैं। मुहाविरों का प्रयोग भी यत्र-तत्र अच्छा मिलता है।



५—बिहारीलाल

१—**शब्दार्थ**—हरित—१—हरी, २—हरण की हुई अर्थात् फीकी, ३—आनन्दित।

सन्दर्भ—बिहारीलाल जी अपनी परम आराध्या राधिका महारानी की वन्दना करते हैं—

भावार्थ—वही चतुरा राधिका जी मेरी सांसारिक आपत्तियों को दूर करें जिनके (गोरे) शरीर की छाया पड़ने से श्रीकृष्ण के शरीर की छवि हरी दिखायी पड़ती है या फीकी हो जाती है अथवा (राधिका की छाया के स्पर्श से) श्रीकृष्ण जी पुलकित हो जाते हैं।

टिप्पणी—१. 'हरित द्युति'—१. नीले और पीले रंग के संयोग से हरा रंग बनता है। श्रीकृष्ण के अंग का रंग नीला है और राधिका के शरीर का रंग पीला है। इसलिए इन दोनों रंगों के मिलने से हरे रंग की सृष्टि हुई। २. राधिका की कांति इतनी सुन्दर है कि उसकी छाया के सामने श्रीकृष्ण की छवि फीकी जान पड़ती है। ३. राधिका के अंग स्पर्श की तो बात ही क्या उसकी छाया के स्पर्श-मात्र से श्रीकृष्ण पुलकित हो उठते थे।

२. सतसई के आरम्भ में यह दोहा वन्दना के रूप में लिखा मिलता है। इस से जान पड़ता है कि कवि ब्रह्म की परम आह्लादिनी शक्ति राधिका जी का अनन्य उपासक है। प्रस्तुत

दोहे में राधिका जी को श्रीकृष्ण की अपेक्षा श्रेष्ठता दी गयी है।

३. 'हरित दुति' में श्लेष अलंकार है।

२-शब्दार्थ—कर—हाथ ; उर—हृदय।

भावार्थ—हे बिहारीलाल ! तुम शिर पर मोर मुकुट धारण कर, कमर में पीताम्बर की काछनी कसकर, हाथ में मुरली लेकर और वक्षस्थल पर वनमाला धारण कर इसी सजधज से सदा मेरे मन में वास करो।

टिप्पणी—देखिए, दोहे जैसे छोटे छन्द में श्रीकृष्ण के छवि की पूर्ण झाँकी किस प्रकार प्रस्तुत की गयी है।

३—शब्दार्थ—सुचित अंतर—स्वच्छ हृदय के अन्दर ; तऊ—तो भी।

भावार्थ—श्रीकृष्ण की मोहिनी मूर्ति की अत्यन्त अद्भुत गति को देखिए। यह मूर्ति रहती तो स्वच्छ हृदय के अन्दर है पर इसका प्रतिबिम्ब समस्त संसार में दिखायी पड़ रहा है।

टिप्पणी—१—जब ब्रह्म किसी स्वरूप में प्रकट होता है तो उस समय उसकी सर्व-व्यापकता नहीं रह जाती। यहाँ कवि श्रीकृष्ण की मूर्ति को हृदय में बसा रहा है किन्तु ऐसा कर के भी वह उसकी व्यापकता नष्ट नहीं करता। वह संसार में उस मूर्ति का प्रतिबिम्ब दिखाकर उसमें ब्रह्मत्व का आरोप कर रहा है। इसमें आश्चर्य की भावना भरी गयी है।

२—माया से आच्छादित होने पर भी ब्रह्म सर्वत्र देदीप्यमान हो रहा है। इस दार्शनिक सिद्धान्त की पुष्टि की गयी है।

४—शब्दार्थ—सोहति—शोभा देती है।

सन्दर्भ—कोई गोपी अपनी सखी से गुञ्जमाल की शोभा का वर्णन कर रही है।

भावार्थ—हे सखी! श्रीकृष्ण के वक्षस्थल पर गुञ्जमाल (इस प्रकार) शोभा दे रही है मानों पिये हुए दावानल की ज्वाला बाहर सुशोभित हो रही हो।

टिप्पणी—एक बार श्रीकृष्ण जी गोचारण के लिए वृन्दावन गये हुए थे। वहाँ अचानक आग लगी जिससे सभी गोप, ग्वाल-बाल और गायें भयभीत हो गयीं। श्रीकृष्ण ने सब को त्रस्त देखकर तुरन्त उस दावानल का पान कर लिया और सब की जान बचायी। यहाँ गुञ्जमाल की शोभा उस दावाग्नि की लाल-लाल लपटों के समान बतायी गयी है। इसमें उत्प्रेक्षा अलंकार है।

५—शब्दार्थ—राजत—शोभा देते हैं।

भावार्थ—मोर-मुकुट की चन्द्रिकाओं से श्रीकृष्ण इस प्रकार शोभा पाते हैं मानों शिव जी की ईर्ष्या से उन्होंने सिर पर सैकड़ों चन्द्रमा धारण किये हों।

६—शब्दार्थ—दिसि— दिशा; नन्दकिशोर—श्रीकृष्ण।

सन्दर्भ—श्याम मेघ के समान श्रीकृष्ण की कान्ति को देखकर मोरों को मेघ का भ्रम हो गया है।

भावार्थ—हे सखी! बिना वर्षा ऋतु के अचानक वन में मोर नाच उठे! जान पड़ता है कि नन्द के लाड़िले घनश्याम ने इस दिशा को आनन्दित किया है।

टिप्पणी—इस दोहे में श्रीकृष्ण के आगमन की सूचना मोरों की कुहक द्वारा दिलाई गयी है। इसमें उत्प्रेक्षा अलंकार है।

७—शब्दार्थ—सुभग—सुन्दर ; सिरमौर—शिरोमणि ; अजौं—अब भी।

भावार्थ—कोई गोपी कहती है कि हे सखी! सुन्दर-शिरोमणि श्रीकृष्ण को जहाँ-जहाँ मैंने खड़े हुए देखा था, अब उनके न रहने पर भी वे स्थान क्षण भर के लिए मेरी आँखों को खींच लेते हैं।

टिप्पणी—देखिए, प्रियतम के खड़े होने, आने और जाने के स्थान भी वियोगिनी गोपिका को किस प्रकार प्यारे लग रहे हैं। इस में स्मरण अलङ्कार है।

८—शब्दार्थ—धँस्यो—प्रवेश किया।

सन्दर्भ—बिहारीलाल जी श्रीकृष्ण के कुण्डलों की मनोहरता का वर्णन करते है।

भावार्थ श्रीकृष्ण के कानों में मकराकृत कुण्ड[illegible] प्रकार शोभा पाता है मानों हृदय रूपी गढ़ में कामदेव प्र[illegible] गया हो और उसका मकर-केतु (कुण्डल के रूप में [illegible] पर शोभा पा रहा हो।

टिप्पण[illegible] [illegible] कोई राजा किसी दूसरे राजा [illegible] जाता है त[illegible] उसकी ध्वजा रोक ली जा[illegible] कामदेव के [illegible] में प्रवेश कर जाने पर उ[illegible] ड्योढ़ी पर [illegible] मदेव की ध्वजा में मछ[illegible] बना हुआ [illegible] मछली के आकार के [illegible] ध्वजा की [illegible] उत्प्रेक्षा अलंकार है

९—**शब्दार्थ**—तजि—छोड़कर ; अनुराग—प्रेम ।

भावार्थ—तीर्थाटन करना छोड़कर उन श्रीकृष्ण और राधिका के शरीर की छटा से प्रेम करो जिनके ब्रज-निकुञ्जों में केलि करने से उसके रास्ते पग-पग पर प्रयाग बन जाते हैं ।

टिप्पणी—तीर्थराज प्रयाग में गंगा-यमुना और सरस्वती का सङ्गम है, इन तीनों का रंग क्रमशः श्वेत, श्याम और लाल माना गया है । यहाँ श्रीकृष्ण और राधिका के चरणों के श्वेत नखों से गंगा जी, श्रीकृष्ण के श्यामल चरणों से यमुना जी और राधिका की एंड़ी के ललाई से सरस्वती जी की उपमा देकर कुञ्जों के रास्ते में पग-पग पर प्रयाग का होना कहा गया है ।

१०—**शब्दार्थ**—एकत्र—एक साथ ; वैस—अवस्था ।

भावार्थ—बिहारीलाल जी कहते हैं कि दोनों सदा एक साथ ही रहते हैं । उनकी अवस्था, रूप-रंग और मन भी एक से हैं । इस युगल मूर्ति को देखने के लिए अनेक युगल-लोचनों की आवश्यकता है । (आँखों के एक जोड़े से देखने पर भला क्या तृप्ति होगी ?)

११—**शब्दार्थ**—चिरजीवौ—(१) चिरंजीवी हो (२) चिर + जीवौ—घास पात खाते रहो ; सनेह—(१) प्रेम (२) मक्खन ; वृषभानुजा—(१) वृषभानु + जा—वृषभानु की पुत्री (२) वृषभ + अनुजा—साँड़ की छोटी बहिन ; हलधर—(१) हल के अस्त्र को धारण करने वाले बलदेव जी (२) हल + धर—बैल ; बीर—भाई ।

भावार्थ—(१)राधा-कृष्ण की यह जोड़ी चिरंजीवी हो ! इनमें गम्भीर स्नेह क्यों न बना रहे ? इनमें घटकर कौन है ? ये हैं वृषभानु की लाड़ली और वे हैं बलदेव के छोटे भाई !

श्लेषार्थ—यह जोड़ी घास-पात खाती रहे ! इनसे खूब मक्खन क्यों न प्राप्त हो ! इनमें घटकर कौन है ! ये हैं साँड़ की छोटी बहिन और वे हैं बैल के छोटे भाई ।

टिप्पणी—इस दोहे में कवि ने उत्तम श्लेष लाने का प्रयत्न किया है किन्तु श्लेष की सफलता के साथ ही इसमें ग्राम्य-दोष आ गया है।

१२—शब्दार्थ—सरल है।

भावार्थ—(इन्द्र के कुपित होने पर जब उसकी आज्ञा से) सभी मेघ एक साथ मिलकर प्रलय करने के लिए बरसने लगे तो गोवर्द्धन-धारी श्रीकृष्ण ने गोवर्द्धन पर्वत को हाथ पर प्रसन्नता के साथ धारण कर इन्द्र का गर्व चूर्ण कर दिया।

टिप्पणी—इन्द्र के क्रोध का कारण यह था कि श्रीकृष्ण ने उनकी पूजा बन्द कराकर गोवर्द्धन पूजा कराई थी।

१३—शब्दार्थ—पीतपट—पीताम्बर।

भावार्थ—श्रीकृष्ण जी अपने साँवले शरीर पर पीताम्बर ओढ़े हुए इस प्रकार शोभा पा रहे हैं मानों नीलमणि के पर्वत पर प्रातःकालीन धूप पड़ रही हो।

टिप्पणी—इसमें उत्प्रेक्षा अलङ्कार है।

१४—शब्दार्थ—अधर—ओष्ठ।

भावार्थ—भगवान् श्रीकृष्ण ज्यों ही बाँसुरी को ओठों पर धारण करते हैं त्यों ही उस पर ओंठ की लाल, दृष्टि की श्वेत, श्याम और लाल, पीताम्बर की पीली तथा शरीर की नीली ज्योति पड़ने लगती है और उस हरे बाँस की बाँसुरी की आभा इन्द्रधनुष की सी हो जाती है।

टिप्पणी—हरे बाँस की बाँसुरी में इन्द्रधनुष की आभा दिखाना कितनी सुन्दर सूझ है ! इसमें अतद्गुण अलङ्कार है।

१५—शब्दार्थ—लिलाट—मस्तक।

भावार्थ—सभी कहते हैं कि अंक के आगे बिन्दु (शून्य) रखने से उसका मान दसगुना बढ़ जाता है किन्तु उस स्त्री ने अपने लिलार पर जो बिन्दी लगाई है उस से उसकी अगणित सुन्दरता बढ़ जाती है।

टिप्पणी—इस दोहे में कवि ने लिलार की बिन्दी का वर्णन गणित के सिद्धान्त के सहारे किया है। इस से कवि का गणित सम्बन्धी ज्ञान प्रकट होता है।

१६—शब्दार्थ—चहुँ—चारों ओर।

भावार्थ—उस चन्द्रमुखी नायिका के घर के चारों ओर पत्रा देखकर ही तिथि का पता चलता है क्योंकि उसके मुख-चन्द्र के प्रकाश से नित्य ही पूर्णिमा रहती है।

टिप्पणी—इस में नायिका के मुख की उपमा पूर्णिमा के चन्द्रमा से दी गयी है। इस में भ्रम तथा अतिशयोक्ति अलङ्कार है।

१७—शब्दार्थ—अजौं—अब भी ; लह्यौ—पा लिया।

भावार्थ—मोतियों के साथ रह कर बेसर नायिका के नाक में पहुँच गयी किन्तु कर्णफूल (नायिका के) कानों की एकमात्र सेवा करके अभी तक कर्णफूल ही हैं।

टिप्पणी—इस में बताया गया है कि उन्नति करने वाले व्यक्ति को किसी सर्वगुण-सम्पन्न व्यक्ति का साथ अवश्य करना चाहिये अन्यथा उन्नति असम्भव है।

श्लेषार्थ—वेदों का निरन्तर अनुशीलन करते रहने पर भी अभी तक किसी की मुक्ति नहीं हो सकी। किन्तु जीवन-मुक्त महात्माओं का सत्संग करके (बहुतों ने) अनायास ही स्वर्ग में रहने का अधिकार प्राप्त कर लिया।

टिप्पणी—इस में सत्संग की महत्ता वेदाध्ययन से अधिक बतायी गयी है।

१८—शब्दार्थ—लोचन जगत—संसार के नेत्रों से।

भावार्थ—एक ही स्त्री में चन्द्रमा-सा मुख, मंगल-सा लाल बिन्दु तथा बृहस्पति-सा पीला टीका देखकर सम्पूर्ण संसार आनन्दित हो जाता है।

टिप्पणी—ज्योतिष में लिखा हुआ है कि जब चन्द्रमा, मंगल और बृहस्पति एक ही राशि पर स्थित होते हैं तो महा-वृष्टि का योग होता है। यहाँ एक ही नारी में चन्द्र, मंगल और बृहस्पति की स्थिति बताकर संसार के लोचनों का रसमय होना कहा गया है। इस में रूपक अलंकार है।

१९—शब्दार्थ—जाकी—जिसकी (१. ईश्वर २. स्त्री ; केते—कितने।

विशेष—इस दोहे का अर्थ अध्यात्म-दृष्टि से परमात्मा के पक्ष में घटता है और शृंगार की दृष्टि से नायिका के पक्ष में घटता है।

परमात्मा के पक्ष में—जिस परमात्मा का (यथार्थ) चित्र खींचने का गर्व करने के कारण कितने ही चतुर चित्रकारों (सूक्ष्म तत्ववेत्ता विद्वानों तथा भावुक-भक्तों) को अन्त में लज्जित होना पड़ा, उस के विषय में क्या कहना !

टिप्पणी—भगवान के सत् स्वरूप का पूर्ण वर्णन करने की सभी को अभिलाषा होती है किन्तु अन्त में सब को "इदमित्थं कहि जाय न कोई" का सिद्धान्त मानना पड़ता है।

नायिका के पक्ष में —संसार के कितने ही चतुर चित्रकार अत्यन्त गर्व के साथ जिस सुन्दरी का चित्र खींचने बैठकर अन्त में बेवकूफ़ बन गये। (उसके सौन्दर्य के विषय में क्या कहना है !)

टिप्पणी—नायिका का यथार्थ चित्र क्यों नहीं खिंच सका इस के निम्नलिखित कारण हो सकते हैं—

(१) नायिका की सुन्दरता प्रतिक्षण बढ़ती रहने से चित्रकार का चित्र अधूरा रह जाता होगा।

(२) नायिका इतनी सुन्दर है कि चित्रकार उसको देखते ही रह जाता होगा और चित्र खींचना भूल जाता होगा अथवा नायिका की सुन्दरता देखकर चित्रकार का मन उसके हाथ में नहीं रहता होगा। इस प्रकार बुद्धि नष्ट हो जाने से चित्रकार चित्र न बना सकता होगा।

(३) अश्रु, स्वेद, कम्प और रोमाञ्च आदि सात्विक भावों के कारण चित्र न बन सकता होगा।

२०—शब्दार्थ—नेह—प्रेम।

भावार्थ—कोई गोपी कहती है कि नेत्रों में कुछ स्नेह नहीं उत्पन्न हुआ है प्रत्युत बहुत बड़ी बला उत्पन्न हुई है। ये नेत्र सदा अश्रु-जल से परिपूर्ण रहते हैं फिर भी इनकी प्यास नहीं बुझती।

टिप्पणी—कितना मार्मिक चित्र है ! इस में विरोधाभास अलङ्कार है।

२१—**शब्दार्थ**—उज्ज्वल—श्वेत, सात्विक।

भावार्थ—बिहारीलाल जी कहते हैं कि इस प्रेमी चित्त की गति कोई नहीं समझता। यह ज्यों-ज्यों कृष्ण-रंग में डूबता है त्यों-त्यों उज्ज्वल होता जाता है। (भाव यह है कि चित्त ज्यों-ज्यों भगवत्-प्रेम का रसास्वादन करता जाता है त्यों-त्यों उसे सात्विकता प्राप्त होती जाती है।)

टिप्पणी—इसमें विरोधाभास अलङ्कार है।

२२—**शब्दार्थ**—जुगुति—मुक्ति; धरक—खटका, चिन्ता।

भावार्थ—यदि मुक्ति में प्रियतम से मिलने का कोई उपाय नहीं है तो ऐसी मुक्ति के मुख में धूल डालनी चाहिए (भाव यह है कि प्रियतम से अलग करने वाली मुक्ति का तिरस्कार कर देना चाहिए) किन्तु यदि प्रियतम के संग नरक में रहना पड़ा तो उसके लिए तनिक भी चिन्ता न करनी चाहिए।

टिप्पणी—इसमें प्रियतम का सम्पर्क नरक में भी स्वर्ग के समान सुख देने वाला बताया गया है।

२३—**शब्दार्थ**—सौंह—शपथ; आन—दूसरी।

भावार्थ—बिहारीलाल जी कहते हैं कि गोपियाँ मुरली की ध्वनि सुनने के लिए उत्सुकतापूर्वक रात-दिन वन की ओर कान लगाये रहती हैं मानों इन्होंने वंशी-ध्वनि के सिवा और कुछ भी न सुनने की शपथ सी ली है।

टिप्पणी—देखिए, वंशी-ध्वनि सुनने के लिए गोपियाँ कितनी उत्सुक हैं।

२४—**शब्दार्थ**—हौं—मैं; बलाइ—आपत्ति।

भावार्थ—कोई गोपी कहती है कि श्रीकृष्ण के सौन्दर्य के लोभ में पड़े हुए मेरे नेत्र रूपी दलालों ने उनके नेत्रों से मिलकर गुप्त साँठ-गाँठ की और बिना कुछ कहे-सुने मुझे बेच डाला। यह मेरे लिए बहुत बड़ी बला है।

२५—शब्दार्थ—तिहारे—तुम्हारे।

भावार्थ—कोई गोपी कहती है कि हे लाल! तुम्हारे सौन्दर्य की यह कौन सी रीति है कि जो नेत्र पल भर इसे देख लेते हैं उन में एक पल के लिए भी नींद नहीं आती।

टिप्पणी श्रीकृष्ण के रूप का जादू इस दोहे में द्रष्टव्य है। इसमें यमक अलंकार है।

२६—शब्दार्थ—पागि—पगे हुए।

भावार्थ—कोई गोपी कहती है कि प्यारे कृष्ण! यद्यपि तुम सुन्दर और प्रेम से पगे हुए हो किन्तु तुम्हारा थोड़ा-सा कपट हमें उसी प्रकार दुख देता है जिस प्रकार तेल और नमक डालकर भूने जाने पर भी कुछ कच्चा रह जाने से सूरन मुँह में खुजलाहट उत्पन्न करता है।

टिप्पणी—इसमें श्लेष अलङ्कार है।

२७—शब्दार्थ—सरल है।

भावार्थ—(अध्यात्मपक्ष में)—भगवान अपने भक्त को सान्त्वना देते हुए कहते हैं कि ऐ भक्त! यदि तू मुझ से बिछुड़ गया तो क्या हुआ? दूर रहते हुए भी तेरा चित्त मेरे पास उसी प्रकार रहता है जिस प्रकार उड़ाने वाले के हाथ में बहुत ऊँची उड़ी हुई पतंग का सूत्र।

(शृंगार पक्ष में) परदेश गया हुआ नायक अपनी प्रेयसी को सान्त्वना देता है कि यदि मैं तुमसे बिछुड़ गया हूँ तो क्या

हुआ। मेरा हृदय तो तेरे हाथ में उसी प्रकार है जिस प्रकार उड़ाने वाले के हाथ में बहुत ऊँची उड़ी हुई पतंग का सूत्र। भाव यह है कि यद्यपि मैं तुमसे बहुत दूर हूँ किन्तु तेरा बुलावा आने पर मैं शीघ्र ही उपस्थित हो सकता हूँ।

२८—**शब्दार्थ**—हौं हीं—मैं ही ; बौरो—पागल।

भावार्थ—कोई वियोगिनी गोपी कहती है कि विरह के वशीभूत होकर मैं ही पागल हो गयी हूँ या सारे गावँ के लोग पागल हो गये हैं। पता नहीं, ये क्या जानकर चन्द्रमा को 'शीतकर' कहते हैं। (मुझे तो यह शीतकर नहीं प्रत्युत दाहक लगता है।)

टिप्पणी—वियोगिनी गोपी को चन्द्रमा दाहक लगता है इसलिए उसकी दृष्टि में चन्द्रमा का 'शीतकर' नाम रखा जाना पागलपन है। इसमें संदेह अलंकार है।

२९—**शब्दार्थ**—कहलाने—(१)किसलिए ; (२) गर्मी से व्याकुल ; एकत—एक ही स्थान पर, एकत्र ; दीरघ दाघ—कड़ी गर्मी।

भावार्थ—(स्वभाव से ही एक दूसरे के शत्रु होने पर भी) सर्प और मोर तथा हिरन और बाघ किस लिए (गर्मी से व्याकुल होकर) साथ रहते हैं? ग्रीष्म की कठोर गर्मी ने संसार को तपोवन-सा (जो) बना दिया।

टिप्पणी—तपोवन के प्रभाव से हिंसक जीव अपने स्वभाव का परित्याग कर देते हैं यहाँ ग्रीष्म की घोर तपन से बेसुध होकर सर्प और मोर तथा हिरन और बाघ अहिंसक होकर साथ बैठे दिखायी पड़ रहे हैं। इसमें प्रश्नोत्तर अलंकार है।

३०—**शब्दार्थ**—दुसह—कठिनता से सहा जाने वाला।

भावार्थ—जब अमावस की रात में सूर्य और चन्द्रमा एक ही राशि पर स्थित होकर संसार में घोर अंधकार कर देते हैं तो दोहरे शासन में प्रजा का घोर दुख क्यों न बढ़े ?

टिप्पणी—बिहारी के समय से जनता मुसलमान सूबेदारों और देशी राजाओं के दोहरे शासन के बीच में पड़कर कितना घोर कष्ट पा रही थी। यह इस दोहे से स्पष्ट लक्षित होता है। इसमें अर्थांतरन्यास अलङ्कार है।

३१—**शब्दार्थ**—सयाने लोग—नीतिज्ञ पुरुष।

भावार्थ—वेद, स्मृतियाँ और नीतिज्ञ पुरुष सभी यही कहते हैं कि राजा, पाप और रोग तीनों निर्बल को ही दुख देते हैं।

३२—**शब्दार्थ**—बसे—रहने पर।

भावार्थ—नागरता का नाम सुनकर गाँव के लोग ताली बजा-बजाकर हँसते हैं। (सच है) गँवारों के गाँव में बसने पर गुण का सारा गर्व नष्ट हो जाता है। (गाँव में गुण की कोई उपयोगिता नहीं रहती है।)

३३—**शब्दार्थ**—रज—धूल।

भावार्थ—यदि तुम चाहते हो कि तेल से चिकनी की हुई किसी वस्तु की चटक (सौंदर्य) न कम हो और न वह मैली ही हो तो उसे धूल पड़ने से बचाइए। इसी प्रकार यदि तुम चाहते हो कि प्रेम से प्रभावित प्रेमी का चित्त सदैव उज्ज्वलता को प्राप्त होता रहे और उस में कभी भी मलिनता न आवे तो उस पर शासन न करो।

टिप्पणी—प्रेम पात्र के ऊपर शासन नहीं करना चाहिए अन्यथा उस के चित्त में गाँठ पड़ जायगी।

३४-शब्दार्थ—जोइ—देखो; जेतो—जितना; तेतो—उतना।

भावार्थ—मनुष्य की तथा नल के जल की एक ही सी दशा है। दोनों पहले जितने ही नीचे होकर चलेंगे अंत में उतने ही ऊँचे उठेंगे।

टिप्पणी—इस में मनुष्य को विनीत होने के लिए कहा गया है।

३५—शब्दार्थ—जोरि—इकट्ठा कर।

भावार्थ—हे मित्र! यह कोई नीति नहीं है कि तुम घोर संकट से ग्रस्त होकर धन का संग्रह करो। हाँ यदि खाने और आवश्यक खर्च करने पर भी बचत हो तो इस से करोड़ों रुपयों का संग्रह करो।

टिप्पणी—इस में पेट काटकर पैसा बचाने की प्रवृति को बुरा बताया गया है।

३६—शब्दार्थ—अलि—भ्रमर; मूल—जड़।

भावार्थ—भ्रमर यह आशा लगाये गुलाब की जड़ में (बहुत दिनों तक) बैठा रहा कि वसंत ऋतु में फिर गुलाब की इन कँटीली डालों में सुन्दर फूल खिलेंगे।

टिप्पणी—यहाँ अन्योक्ति अलंकार है, इस में आशावाद जीवों को धैर्य बँधाया गया है।

३७—शब्दार्थ—कनक—सुवर्ण; कनक—धतूरा।

भावार्थ—सोने (धन) में धतूरे से सौ गुनी अधिक मादकता होती है। देखिए, धतूरे को खाने से आदमी पागल बनता है पर इस को पाने (स्पर्श करने) से ही आदमी पागल हो जाता है।

टिप्पणी—इस में धन का नशा सभी नशों से बुरा बताया गया है। इस में यमक अलङ्कार है।

३८—शब्दार्थ—कत—क्यों ; कुरंग—हिरन

भावार्थ—इस जाल में पड़कर कौन छूट सका है? ऐ हिरन! (ऐसी स्थिति में) तू क्यों व्याकुल होता है। देख, तू ज्यों-ज्यों इस जाल को सुलझाकर भागने का प्रयत्न करता है त्यों-त्यों और उलझता जाता है।

टिप्पणी—इस दोहे में प्रकारान्तर से भवजाल में ग्रस्त जीवों की दुर्दशा दिखलायी गयी है। वे ज्यों-ज्यों भवजाल से मुक्त होने के लिये जप-तप, तीर्थ और व्रत आदि नाना प्रकार के उपाय करते हैं त्यों-त्यों और मोह ग्रस्त होकर इस भवजाल में बुरी तरह से उलझ जाते हैं। इस भवजाल से मुक्ति पाने का केवल एक ही उपाय है कि धैर्य धारण कर जीव प्रभु की प्रार्थना करे। जिस प्रकार शिकारी हिरन को स्वेच्छा से मुक्त कर सकता है उसी प्रकार भगवान् जीव को भवबंधन से मुक्त कर सकते हैं। इस में अन्योक्ति अलंकार है।

३९—शब्दार्थ—गंधी—इत्र बेचने वाला।

भावार्थ—सभी (गुलाब के इत्र को) हाथ में लेते हैं, सूँघते हैं, प्रशंसा करते हैं और फिर मौन ग्रहण कर लेते हैं। अरे गंधी! गुलाब के इत्र का यहाँ गाँव में कौन गाहक है?

टिप्पणी—इस दोहे में कवि ने अन्योक्ति द्वारा बतलाया है कि गुणग्राही व्यक्ति के सामने ही यथासमय गुण का प्रदर्शन करना चाहिए अन्यत्र गुण का प्रदर्शन करने से कोई लाभ न होगा।

४०—शब्दार्थ—नागर—सभ्य।

भावार्थ—ऐ गुलाब ! जिन से सम्मानित होने पर ही तेरी प्रतिष्ठा है वे श्रेष्ठ नागर (सभ्य पुरुष) यहाँ गाँव में नहीं हैं। इसलिए यहाँ तेरा फूलना न फूलने के समान ही है।

टिप्पणी—इस दोहे में अन्योक्ति अलंकार है। गवाँरों के बीच गुण प्रदर्शन करना व्यर्थ ही है।

४१—शब्दार्थ—तऊ—तो भी ; निपट—एकदम।

भावार्थ—ऐ सरोवर ! यह एकदम कुचाल है। (इसे छोड़ दो) यद्यपि वे (बगले) पुराने साथी हैं, पर तो भी वे बगले ही हैं। ये हंस नये हैं तो क्या हुआ ? ये मन को मोहित करने वाले (तो) हैं। (अतएव बगले का संग त्याग कर हंस का संग करो।)

टिप्पणी—इस में अन्योक्ति अलंकार है। नये-पुराने का कुछ भी ध्यान न रखकर सदैव शिष्ट और गुणी जनों से सम्पर्क रखना चाहिए।

४२—शब्दार्थ—दई—दैव, विधाता ; दई—दिया है।

भावार्थ—(बड़ों की) बड़ी भूल देखकर भी बड़ों से कौन कह सकता है ? दैव ने गुलाब की इन (कँटीली) डालियों में सुन्दर फूल लगाए हैं। (फिर भी उनसे कोई नहीं कहने जाता कि यह आपकी भूल है !)

टिप्पणी – इसमें अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है।

४३—शब्दार्थ—मधु—पराग ; मधुकर—भ्रमर।

भावार्थ—ऐ गुड़हल के फूल ! तू (व्यर्थ में) बहककर क्यों अपनी (सुन्दरता की) प्रशंसा कर प्रसन्न हो रहा है। तू भूल मत कर। बिना पराग के (सुन्दर होने पर भी) तू भ्रमर के हृदय में न गड़ सकेगा भाव यह है कि बिना पराग के भ्रमर तुझे नहीं चाहेगा।)

टिप्पणी—इस दोहे में किसी रूपगर्विता नायिका पर अन्योक्ति है। रूपगर्विता नायिका से उसकी सखी कहती है कि तेरा अपने सौन्दर्य पर गर्व करना व्यर्थ है क्योंकि हाव-भाव आदि के गुण का अभाव देखकर नायक तुझसे प्रसन्न नहीं होगा।

४४—शब्दार्थ—सपर—परिवार के साथ ; विहंग—पक्षी ; पुहुमि-पृथ्वी ।

भावार्थ—पंख ही तुम्हारा वस्त्र है, (सर्वत्र सुलभ) कंकड़ ही तुम्हारा भोजन है और सदैव तू परिवार के साथ अपनी कबूतरी के संग में रहने वाला है। इसलिए ऐ परेवा ! संसार में तूही एक सुखी पक्षी है।

टिप्पणी—इस दोहे में सुखी जीवन का चित्र उतारा गया है।

४५—शब्दार्थ—काग—कौआ ; सनमान—आदर।

भावार्थ—ऐ कौए ! दस-पन्द्रह दिन तक सम्मानित होकर तू (अपने मुह से) अपनी प्रशंसा कर ले क्योंकि जब तक श्राद्ध पक्ष है तभी तक तेरा सम्मान भी है।

टिप्पणी—श्राद्ध पक्ष में कौओं को बलि का अन्न मिलता

है। इसी बात को लेकर अवसरवादी लोगों पर कवि ने अन्योक्ति की है।

४६—शब्दार्थ—बेर—बेला, समय।

भावार्थ—समय का फेर तो देखो। तोता पिंजड़े में बन्द होकर प्यास के मारे मर रहा है और बलि के समय कौआ बुलाया जा रहा है।

टिप्पणी—इसमें भाग्य-चक्र पलटने की बात कही गयी है।

४७—शब्दार्थ जड़ता—मुर्खता।

भावार्थ—जिस मुकुट को शिर पर धारण करके राजाओं और महाराजाओं ने पृथ्वी में यश प्राप्त किया उसको पैर में पहनने से अपनी ही मूर्खता सिद्ध होती है।

टिप्पणी—इसमें अन्योक्ति है, सत्पात्र का तिरस्कार करने से अपनी ही अयोग्यता सिद्ध होती है।

४८—शब्दार्थ—ह्याँ—यहाँ; पुर—गाँव।

भावार्थ—ऐ हाथी के खरीदार! तुम यहाँ से चले जाओ यहाँ हाथियों का व्यापार कौन करता है? क्या तुम नहीं जानते कि इस गाँव में (गधे पालने वाले) केवल धोबी और कुम्हार ही रहते हैं।

टिप्पणी—इसमें अन्योक्ति है। मूर्खों के बीच गुणियों की पूछ कहाँ?

४९—शब्दार्थ—सरल है।

भावार्थ—वृष-राशिस्थ सूर्य की घोर तपन के कारण तुझे जो प्यास लग रही है, उसे तरबूज के जल से शान्त कर और

असीम तथा अगाध जल रखने वाले मूर्ख सागर की परवाह न कर। (उसे तू यों ही बह जाने दे।)

टिप्पणी—इसमें बताया गया है कि विपत्ति के समय बड़े किन्तु सहायता न करने वाले पुरुषों का आसरा न ताकना चाहिए वरन् छोटे व्यक्तियों की किंचित् मात्र सहायता से लाभ उठाना चाहिए। इसी आशा का एक दोहा रहीम ने भी कहा है—

"धनि रहीम जल पंक कों, लघु जिय पियत अघाय।
उदधि बड़ाई कौन है, जगत पियासो जाय॥"

५०—शब्दार्थ—गिरि—पर्वत ; पयोधि—समुद्र।

भावार्थ—जिस प्रेम रूपी सागर में हज़ारों पर्वत से भी ऊँचे रसिक मन डूब गये और बह गये वही गवाँरों को एक छोटी-सी पोखरी के तुल्य दिखायी देता है।

टिप्पणी—सच है, प्रेम की महत्ता को मूर्ख लोग क्या जानें।

५१—शब्दार्थ—चटक—स्पष्टता ; घटत—कम होते हुए।

भावार्थ—सज्जनों का गम्भीर स्नेह घटते हुए भी उसी प्रकार फीका नहीं होता जिस प्रकार मँजीठ के रंग में रंगा हुआ कपड़ा फटने पर भी अपनी चटक नहीं छोड़ता।

टिप्पणी—इसमें सज्जनों के सच्चे प्रेम का दिग्दर्शन कराया गया है।

५२—शब्दार्थ—तरे—पार उतर गये।

भावार्थ—वीणा के नाद में, सुन्दर राग-रागिनियों में, कविता के रस में तथा प्रेम-प्रसङ्ग में जो डूब गये (पूर्ण रूप से

तल्लीन हो गये) वे (संसार-सागर से) पार उतर गये किन्तु जो नहीं डूबे (पूर्णतया तल्लीन नहीं हुए) वे (संसार-सागर में) डूब गये।

टिप्पणी—गहरी तल्लीनता होने पर ही सिद्धि या मुक्ति प्राप्त हो सकती है। इसमें विरोधाभास अलंकार है।

५३—शब्दार्थ—कालि—कल; कत—क्यों।

भावार्थ—हे मूर्ख नीलकण्ठ! कल विजयदशमी बीत जायगी। (कुछ तो) हृदय में लज्जा कर (सामने आ)। व्यर्थ में वृक्षों के बीच क्यों छिपा फिरता है?

टिप्पणी—दशहरा के अवसर पर नीलकण्ठ का दर्शन शुभ माना जाता है किन्तु इस अवसर पर वह दिखलायी नहीं पड़ता। इसी बात को लेकर कवि ने उन गुणी व्यक्तियों पर आक्षेप किया है जो यथावसर अपने गुण का प्रदर्शन नहीं करते।

५४—शब्दार्थ—रुचि—प्रवृत्ति; जितै—जिस पर।

भावार्थ—समय-समय पर सभी सुन्दर लगते हैं, रूपवान और कुरूप कोई नहीं है। मन की प्रवृत्ति जिस पर जितनी ही अधिक होगी वह उतना ही सुन्दर लगेगा।

टिप्पणी—इसमें दार्शनिक चमत्कार है। कोई भी वस्तु वस्तुतः न अच्छी है न बुरी। इसकी अच्छाई और बुराई तो भोक्ता पर निर्भर है।

५५—शब्दार्थ—हौं—मैं; एकै रूप—एक ब्रह्म का रूप।

भावार्थ—बिहारीलाल जी कहते हैं कि मैं ने भली-भांति समझ लिया है कि यह जग काँच के समान कच्चा है और इसमें

जहाँ भी देखिए एक ही रूप के (परमात्मा के) अनेकों प्रतिबिम्ब दिखायी पड़ते हैं।

टिप्पणी—इसमें अद्वैतवाद का निरूपण हुआ है। जितना 'नानात्व' दिखायी देता है सब एक ही ब्रह्म का प्रतिबिम्ब है।

५६—शब्दार्थ—सकल—सब।

भावार्थ—जिसने सारे संसार में यह बात प्रसिद्ध की कि वह प्रभु का यथार्थ रूप जान गया है, समझ लीजिए कि उसने हरि को नहीं जान पाया है क्योंकि जिन आँखों से सब कुछ देखा जाता है, वे आँखें स्वतः अपने को नहीं देख सकतीं।

टिप्पणी—इसमें दार्शनिक चमत्कार है। ईश्वर-ज्ञान सचमुच अलभ्य है।

५७—शब्दार्थ—नाचै वृथा—व्यर्थ का ढोंग करता है।

भावार्थ—जप करने, माला, छापा और तिलक धारण करने मात्र से एक भी काम न सधेगा। यदि मन में कपट है तो यह सब स्वाँग व्यर्थ है। राम तो सच्ची उपासना करने वालों से प्रसन्न होते हैं।

टिप्पणी—राम अपने सच्चे व्यवहार से ही प्रसन्न होते हैं। उनके साथ दंभ करने से कोई भी काम नहीं चल सकता।

५८—शब्दार्थ—तौ लगि—तब तक ; मन-सदन—मन रूपी घर ; बाट—मार्ग ; कपाट—किवाड़।

भावार्थ—जब तक दृढ़ता से बन्द किये गये कपट-रूपी किवाड़ नहीं खुलते तब तक इस मन रूपी घर में भगवान किस मार्ग से आवें (भाव यह है मन के निष्कपट होने से ही उसमें ईश्वर आ सकते हैं।)

५९—शब्दार्थ—बिरिया—अवसर, समय ; पाहन—पत्थर।

भावार्थ—ऐ जीव ! इस (अंतिम) अवसर पर और कोई तेरी सहायता नहीं कर सकता। इसलिए तू उसी कर्णधार को खोज जिसने पत्थर की नाव पर चढ़ाकर (करोड़ों बन्दरों व भालुओं को) समुद्र के पार उतार दिया था।

टिप्पणी—कवि इस दोहे में अंतिम अवस्था आने पर भगवान राम की शरण में जाने के लिए कहता है। रामचन्द्र जी ने जब पत्थर का पुल समुद्र में बँधवाकर वानरों की सेना को लंका पार उतार दिया तो क्या वे इस भवसागर से पार नहीं उतारेंगे ? अवश्य उतारेंगे। फिर उतारने की बात तो दूर ही रही क्योंकि भगवान का नाम सुनते ही भवसागर आप से आप सूख जायगा। गोस्वामी तुलसीदास जी ने कहा है—"नाम लेत भव सिन्धु सुखाहीं।"

६०—शब्दार्थ—भजन—भजन करना; भजन—भागना।

भावर्थ—ऐ मूर्ख मन ! (गर्भ में) जिस (प्रभु) का भजन करने के लिए तूने वादा किया था उसका नाम एक बार भी नहीं लिया और जिस से दूर भागने (त्यागने) का वचन दिया था उस से दूर नहीं रह सका। तू सदा विषयों में लिप्त रहा।

६१—शब्दार्थ—पीठ दै—विमुख होकर।

भावार्थ—गोपाल की लीला पतंग के समान है। गुण विस्तार करने के समय (अपने को गुणवान समझने के समय) वे पीठ देकर भागते हैं (ठीक उसी प्रकार जैसे कि डोरी बढ़ाने

से पतंग दूर चली जती है।) और निर्गुण होते ही (अपने को गुणहीन या तुच्छ समझने ही) वे निकट ही प्रकट हो जाते हैं (ठीक उसी प्रकार जैसे डोरी खींच लेने पर पतंग हाथ में आ जाती है।)

टिप्पणी—इस दोहे में कवि ने बताया है कि जिन लोगों को अपने गुणों का अभिमान है, उन से भगवान सदा दूर रहते हैं। वे तो उन्हीं के पास आने के लिए सदैव तैयार रहते हैं जिन्हें अपने गुणों का कुछ भी अभिमान नहीं होता।

६२—शब्दार्थ—आन—अन्य ; उपाव—उपाय।

भावार्थ—ऐ मन इस संसार-सागर को पार करने का दूसरा कोई उपाय नहीं है। तू माला रूपी पतवारी पकड़कर और हरि-नाम की नौका में बैठकर इस संसार-सागर को पार कर जा।

टिप्पणी—इस दोहे में नाम-स्मरण की महत्ता कही गयी है।

६३—शब्दार्थ—निहारि—देख ; उर—हृदय।

भावार्थ—ऐ मन! (यदि तू मोही है तो) मोहन से मोह कर, (यदि तू सौन्दर्य-प्रेमी है तो) घनश्याम की ओर देख, (और यदि तू निरन्तर विहार ही करना चाहता है तो) कुञ्जविहारी के साथ विचरण कर। अरे, यदि तू अपने को बलवान लगाता है तो गिरिधारी कृष्ण को छाती पर क्यों नहीं रख लेता?

टिप्पणी—यह दोहा बहुत ही उत्कृष्ट है। बिहारी का वाक्चातुर्य इस में देखते ही बनता है।

६४—शब्दार्थ—अनाकनी दई—सुनी-अनसुनी कर दी; गुहारि—पुकार; तारन-बिरद—उद्धार करने का यश।

भावार्थ—हे प्रभो! तुमने अच्छी आनाकानी की। (मैं क्या कहूँ) मेरी तो पुकार ही फीकी पड़ गयी। (ज्ञात पड़ता है कि) तुम ने एक बार गजेन्द्र का उद्धार करके अब तारने का यश ही छोड़ दिया!

टिप्पणी—कहते हैं कि एक बार गजेन्द्र किसी सरोवर में पानी पीने के लिए गया। वहाँ ग्राह ने उसका पैर पकड़ लिया। सहस्रों वर्षों तक निरन्तर युद्ध करने पर गजेन्द्र हताश हो गया। तब उसने करुण स्वर से प्रार्थना की कि हे प्रभो! मुझे बचाओ। दयालु भगवान ने तुरन्त ही अपने चक्र-सुदर्शन से ग्राह का सिर काट डाला और गजेन्द्र को बचा दिया। इस दोहे में इसी कथा की ओर संकेत है।

६५—शब्दार्थ—दीरघ—लम्बी; कबूल—स्वीकार करो।

भावार्थ—दुःख में लम्बी साँस मत लो और सुख में प्रभु को न भूलो। हाय-हाय क्यों करते हो? विधाता ने तुम्हें जो कुछ दिया है, उसे (प्रसन्नता से) स्वीकार करो।

टिप्पणी—इसमें यमक अलंकार है।

६६—शब्दार्थ—सुचित न आयो—मन में नहीं बसे।

भावार्थ—ऐ मन! यदि तेरी प्रवृत्ति ब्रजवासियों के उचित धन श्रीकृष्ण की प्राप्ति की ओर है तो तू उनका ध्यान कर। यदि वे तेरे मन में नहीं बसे तो तुझे शान्ति ही कैसे प्राप्त हो सकती है?

६७—शब्दार्थ—सोई—वही; गिनौ न—गिनती न करो।

भावार्थ—हे गोपीनाथ ! चित्त में वैसी ही दया रखिए जिससे मैं भी (अन्य) पापियों के साथ तर जाऊँ। मेरे गुणों और अवगुणों को न गिनिए क्योंकि इस गणना से मेरा उद्धार न हो सकेगा। (मुझे तो केवल आपकी दया का ही भरोसा है।)

६८—**शब्दार्थ**—रीझते—प्रसन्न होते ; बिसराई—भुला दी।

भावार्थ—हे कृष्ण ! थोड़े से ही गुणों पर रीझने वाली अपनी वह पुरानी आदत तुमने छोड़ दी है। जान पड़ता है कि तुम भी अब कलियुग के दानी बन रहे हो।

टिप्पणी—इस दोहे में कलियुगी दानियों की निन्दा की गयी है।

६९—**शब्दार्थ**—टेरत—पुकारता हूँ ; तुम हूँ—तुम्हें भी।

भावार्थ—हे प्रभो ! मैं दीन बनकर कब से तुम को पुकार रहा हूँ (फिर भी तुम मेरी सहायता को नहीं आ रहे हो।) हे जगद्गुरु ! हे जग के अधिष्ठाता !! जान पड़ता है कि दुनिया की हवा तुम्हें भी लग चुकी है।

टिप्पणी—'जगनाय' से कवि ने कलियुगी दानियों की ओर संकेत किया है।

७०—**शब्दार्थ**—बिपति - बिदारनहार—विपत्ति को नष्ट करने वाले।

भावार्थ—बिहारीलाल जी कहते हैं कि चाहे कोई हजारों-लाखों रुपये एकत्र करे और चाहे कोई करोड़ों रुपये एकत्र करे पर मुझे इससे क्या ? मेरी सम्पत्ति तो विपत्ति को सदैव नष्ट करने वाले श्रीकृष्ण जी ही हैं।

७१—**शब्दार्थ**—हठ न करौ—जिद न कीजिए।

भावार्थ—हे गोपाल ! मेरी करनी का जो फल होगा वही होकर रहेगा। आप हठ न करें क्योंकि मुझ जैसे पापी का उद्धार करना कोई खेल नहीं है।

टिप्पणी—कितनी सुन्दर युक्ति है !

७२—**शब्दार्थ**—बहस—उत्तर-प्रत्युत्तर होना।

भावार्थ—हे यदुराज ! मुझ में और तुम में बहस छिड़ गयी है। देखना है कि कौन जीतता है। दोनों को अपने यश की लाज रखनी है। (तुम मुझे तारने के लिए कटिबद्ध हो और मैं पाप करने पर उतारू हूँ)

७३—**शब्दार्थ**—सरल चित -सरल हृदय।

भावार्थ—संसार भले ही निन्दा करे किन्तु हे दीन-दयालु ! मैं अपनी कुटिलता त्याग नहीं सकता क्योंकि त्रिभंगीलाल जी ! मेरे सरल चित्त में बसने पर तुम्हें कष्ट होगा।

टिप्पणी—सीधे हृदय में त्रिभंगी मूर्ति कैसे खड़ी रह सकेगी। इसके लिए तो टेढ़ा हृदय ही उपयुक्त होगा। हे नाथ ! इसलिए मैं शरारत करता हूँ। बलिहारी है इस उक्ति पर !

७४—**शब्दार्थ**—मोष मोक्ष ; तोष—संतोष।

भावार्थ—हे प्रभो ! मुझे भी मोक्ष दीजिए जिस प्रकार आपने अन्य पापियों को दिया है किन्तु यदि आप मुझे बंधन में रखने पर ही संतुष्ट होंगे तो कृपया अपने गुणों (रस्सियों) से बाँध रखिए। (भाव यह है कि मैं निरन्तर आपका गुणगान करता रहूँ।)

टिप्पणी—बंधन या मोक्ष दो में से एक भगवान

को देना ही पड़ेगा और दोनों ही दशाओं में बिहारी घाटे में न रहेंगे। देखिए, कितनी चतुरतापूर्ण युक्ति है!

७५—शब्दार्थ—सरल है।

भावार्थ—हे प्रभो! मैं हजार बार आप से विनती करता हूँ कि येन केन प्रकारेण आपके दरबार में डरता हुआ पड़ा रहूँ।

७६—शब्दार्थ—बलियै—बलैया लूँ; लखौ—देखो।

भावार्थ—हे नागर नन्दकिशोर! मैं तुम्हारी बलैया लूँ। यदि तुम मेरी करनी पर कृपा की दृष्टि डालो क्योंकि मेरी बन जायगी (मेरा उद्धार हो जायगा)।

७७—शब्दार्थ—वित—धन; जिय—हृदय।

भावार्थ—धन के जाते समय जिस प्रकार हृदय में संतोष होता है यदि उसी प्रकार धन के आते समय संतोष हो तो घड़ी भर में (या घर में ही) मोक्ष हो जाय।

६—देव

—:०::०::०:—

देव के काव्य की पृष्ठभूमि—हिन्दी साहित्य में रीति-ग्रन्थों की परम्परा किस प्रकार चली इसका संकेत 'बिहारी के काव्य की पृष्ठभूमि' में किया जा चुका है अतः यहाँ उसका फिर से उल्लेख करना समीचीन नहीं जान पड़ता। बिहारी और देव दोनों एक ही परम्परा के कवि थे और दोनों का वर्ण्य-विषय भी प्रायः एक ही है इनमें अंतर केवल इतना ही है कि देव की भाँति बिहारी ने अलग से लक्षण-ग्रन्थ नहीं लिखा है किन्तु इनका ध्यान लक्षणों के सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत करने की ओर अवश्य था। बिहारी 'सिद्धान्त-निरूपण' करके अपना पांडि-त्य-प्रदर्शन करने की अपेक्षा अपनी कृति को पूर्ण व्यवस्थित करना अच्छा समझते थे किन्तु वे परम्परा की लीक से एकदम हटना नहीं चाहते थे। उनकी सतसई में इन विचारों की स्पष्टता अंकित है। देव जी ने बिहारी की भाँति थोड़ी सी भी स्वतन्त्रता नहीं ली। इन्होंने परम्परा को लीक पर चलना ही अभिप्रेत समझा था। उस समय वस्तुतः वही इनके लिए राजमार्ग भी था।

वर्ण्य-विषय—बिहारी की भाँति देव जी के वर्णन का विषय शृंगार ही था। इन्होंने शृंगार के अंतर्गत संयोग और वियोग दोनों का वर्णन किया है। रूप-वर्णन और प्रकृति-वर्णन भी इन्होंने किया है। नीति और वैराग्य सम्बन्धिनी कविताएँ

भी इन्होंने की हैं। 'भाव विलास' और 'काव्य-रसायन' या 'शब्द-रसायन' इनके लक्षण ग्रन्थ हैं जो इन्हें आचार्यों की श्रेणी में बैठाते हैं। इन्होंने इतने ग्रन्थ लिखे हैं कि रीतिकाल के प्रतिनिधि कवियों में से किसी ने उतने ग्रन्थ नहीं लिखे। इनके सभी ग्रन्थों की संख्या ७२ या ५२ बतायी जाती है किन्तु आचार्य शुक्ल जी ने हिन्दी साहित्य के इतिहास में इनके २५ ग्रन्थों का उल्लेख किया है। ग्रन्थों की अधिक संख्या होने के सम्बन्ध में आचार्य शुक्ल जी ने लिखा है कि "देव जी अपने पुराने ग्रन्थों के कवित्तों को इधर-उधर दूसरे क्रम से रखकर एक नया ग्रन्थ प्रायः तैयार कर दिया करते थे। इससे वे ही कवित्त बार-बार इनके ग्रन्थों में मिलेंगे। 'सुखसागर तरंग' तो प्रायः अनेक ग्रन्थों से लिए गये कवित्तों का संग्रह है।" देव जी को अभाग्यवश कोई ऐसा आश्रय दाता नहीं मिला जिसके यहाँ ये जीवन-पर्यंत रहते और सुचारु रूप से रचना करते। इन्हें जन्म भर आश्रयदाताओं की खोज करनी पड़ी है। इन्होंने अपने जीवनकाल में जिन-जिन आश्रयदाताओं का आश्रय लिया है, प्रायः सभी को कोई न कोई ग्रन्थ अवश्य समर्पित किया है। ऐसी स्थिति में अपने इस ग्रन्थ-निर्माण कार्य में इन्होंने शुक्ल जी द्वारा कथित युक्ति से बहुत सहायता ली थी।

समीक्षा—रीति काल के 'रीति-ग्रन्थकार कवियों' में देव जी का विशिष्ट स्थान है। ये इतने प्रगल्भ और प्रतिभा-सम्पन्न कवि थे कि सोलह वर्ष की अवस्था में ही 'भाव-विलास' जैसा लक्षण-ग्रन्थ लिख डाला था। इनमें मौलिकता का गुण पर्याप्त था। काव्यानुशीलन भी इन्होंने खूब किया था। पांडित्य और अनुभव की भी इनमें कमी न थी। इन्होंने प्रमुख रूप से शृंगार का ही वर्णन किया है। ये हमारे सामने आचार्य और कवि दोनों रूप में आते हैं। जहां तक आचार्यत्व का प्रश्न है ये बहुत सफल नहीं कहे जा सकते। इनका कवि रूप अपेक्षाकृत अधिक

निखरा हुआ और स्पष्ट है। इन्होंने काव्यांगों का निरूपण संस्कृत का 'रस तरंगिणी' के आधार पर किया है। इनके पद्य-बद्ध लक्षण अधिकांश में अस्पष्ट और दुरूह हैं। इनमें सिद्धांतों का विवेचन एवं पर्यालोचन वैज्ञानिक ढंग से ठीक-ठीक नहीं हो सका है। उदाहरणार्थ जो रचनाएँ प्रस्तुत की गयी हैं वे अपने लक्ष्य में पूर्णतया सफल नहीं हैं। इन्होंने कई स्थलों पर एक ही छन्द को कई लक्षणों के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है। इस प्रकार इनका आचार्यत्व बहुत सफल नहीं है अपने लक्षण ग्रन्थ 'शब्दरसायन' में इन्होंने शब्दालंकारों की बहुत निन्दा की है किन्तु इनकी सम्पूर्ण रचना को यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो उसमें शब्दालङ्कार ही प्रचुर परिमाण में मिलते हैं। इनका कोई ऐसा छन्द नहीं है जिसमें अनुप्रासों का आग्रह न पाया जाता हो। इनकी इस रुचि के कारण काव्य-भाषा में बहुत प्रांजलता और सरसता नहीं आ सकी है। अक्षर-मैत्री का सौन्दर्य लाने के लिए इन्होंने शब्दों को खूब तोड़ा और मरोड़ा है। तुकांत में बहुत स्थलों पर इन्होंने निरर्थक शब्द भी बैठा दिये हैं। बहुत से छन्दों में इन्होंने भरती के भी शब्द रक्खे हैं वास्तव में ऐसे स्थलों पर शब्दों का अधिक व्यय हुआ है जिससे भाषा में शिथिलता आ गयी है। इसके विपरीत इन्होंने कुछ स्थलों पर शब्दालंकारों की ऐसी सुन्दर छटा छहराई है कि क्या मजाल जो तनिक भी अर्थ आछन्न हो अथवा भाषा की सजीवता और सरसता नष्ट हो। उदाहरणार्थ इस छन्द को देखिए—

आई बरसाने ते बोलाई वृषभानु-सुता,
निरखि प्रभानि प्रभा-भानु की अथै गई।
चक-चकनान के चकाये, चक-चोटन सों,
चौंकत चकोर चकचौंधी सी चकै गई।

'देव' नन्द नन्दन के नैननि अनन्दमयी,
नन्द जू के मंदिरन चंदमयी छ्वै गई।
कंजन कलिनमयी, कुंजन नलिनमयी,
गोकुल की गलिन अलिनमयी कै गई।

इन्होंने प्रकृति-वर्णन स्वतंत्र और उद्दीपन विभाव दोनों ही रूपों में किया है। इनका प्रकृति-वर्णन बहुत ही मनोहर और आकर्षक बन पड़ा है। उदाहरणार्थ पवन देव की इस प्राकृतिक-क्रीड़ा का निरीक्षण कीजिए—

अरुन उदोत, सकरुन है अरुन नैन,
तरुनी - तरुन - तन तूमत फिरत हैं।
कुंज-कुंज केलि कै नवेली, बाल बेलिन सों,
नायक - पवन बन भूमत फिरत हैं।
अंब कुल, बकुल समीड़ि, पीड़ पाँड़रनि,
मल्लिकानि मीड़ि घने घूमत फिरत हैं।
द्रुमन-द्रुमन दल दूमत मधुप 'देव',
सुमन-सुमन मुख चूमत फिरत हैं।

ऊपर लिखा जा चुका है कि देव जी ने प्रमुख रूप से शृंगार का वर्णन किया है बिहारी की भाँति इन्होंने भी इस शृंगार को अश्लीलता की सीमा तक पहुँचा दिया है। नखशिख वर्णन में इन्होंने सौन्दर्य का निरूपण अच्छे ढंग से किया है। इनका 'जाति-विलास नायिका भेद के ढंग का बहुत मनोरम ग्रन्थ है इस में प्रायः सभी जाति व सभी प्रांतों की नायिकाओं का वर्णन किया गया है। 'प्रेम-पचीसी' 'जगद्दर्शन-पचीसी' 'आत्मदर्शन पचीसी' और 'तत्वदर्शन-पचीसी' ये चार ग्रन्थ वैराग्य विषयक हैं। इस में इनकी शान्त रस की कविताएँ हैं।

जिस प्रकार बिहारी को लेकर कई समीक्षात्मक ग्रन्थ लिखे गये उसी प्रकार देव को लेकर भी खूब आलोचना की गई। हिन्दी संसार में इनके समर्थकों व प्रशंसकों की कमी कभी नहीं रही किन्तु निष्पक्ष दृष्टि से यदि इनके सम्पूर्ण काव्य का अवलोकन किया जाय तो यह ज्ञात होगा कि इन की रचना जितनी सदोष है उतनी ही निर्दोष भी है। निस्सन्देह ये अपने युग के उत्कृष्ट कवि थे।

भाषा और शैली—देव जी की भाषा में स्निग्ध-प्रवाह का प्रायः अभाव है। अनुप्रासों की ओर रुचि रहने के कारण इन की भाषा में दुरूहता और व्यर्थ की तड़क-भड़क आ गई है वास्तव में इन की इस रुचि ने अभिप्रेत भावों तक पहुँचने में बड़ी बाधा डाली है। ये जिन स्थलों पर अपने मनोभावों को पूरी तरह व्यक्त करने में समथ हुए हैं वहाँ की भाषा टकसाली, सरस और माधुर्य व प्रसाद गुण से परिपूर्ण है। ऐसे स्थलों पर अर्थ-सौष्ठव भी निखरा हुआ मिलता है। इन्होंने फारसी शब्दों का प्रयोग अधिक किया है किन्तु अपने काव्य में व्यवहृत करते समय उस को देशी साँचे में ढाल लिया है। शब्दों का तोड़-मरोड़ भी इन्होंने खूब किया है। मुहाविरों और लोकोक्तियों का प्रयोग यत्र-तत्र किया है। इन्हें कवित्त की अपेक्षा सवैया लिखने में विशेष सफलता मिली है। भावों और शैली की मौलिकता इनमें बहुत है।

—::०::—

६—देव

१—शब्दार्थ—पटपीत—पीताम्बर ; हुलसै—शोभा देती है।

भावार्थ—देव जी कहते हैं कि जिनके पैरों में सुन्दर नूपुर बजा करते हैं, जिन के कटि की किंकिणी मधुर ध्वनि करती है, जिनके श्यामल शरीर में पीताम्बर और वक्षस्थल पर वनमाला सुशोभित होती है, जिनके मस्तक पर मोर-मुकुट शोभा देता है, जिनके नेत्र विशाल और चञ्चल हैं, जिनके मुख की मधुर मुस्कान चन्द्रमा की किरणों के समान (प्रकाशमय) है तथा जो संसार रूपी मन्दिर के सुन्दर दीपक हैं वे व्रजपति श्रीकृष्ण जी हमारी सहायता करें।

टिप्पणी—इस सवैये में देव जी ने भगवान से विनय की है।

२—शब्दार्थ—सूनो कै—खाली करके ; नदीस—समुद्र ; फुरै परी—प्रकट हो गयी ; पारावार—समुद्र।

भावार्थ—देव जी कहते हैं कि भादों की अँधेरी अर्द्धरात्रि के समय विशाल समुद्र की भाँति पूर्ण परब्रह्म की अपार राशि श्रीकृष्ण जी वसुदेव और देवकी के मनोरथों को (अपने मन में) छिपाये हुए मथुरा के मार्ग से आकर जब माता यशोदा की गोद में अचानक अवतीर्ण हो गये तो उस समय व्रज की ऐसी शोभा हुई मानों मुनियों की महिमा, दिगीश्वरों की सम्पत्ति तथा

योगीश्वरों की सिद्धि ब्रज की गलियों में बिखेर दी गयी हो अथवा स्वयं लक्ष्मी जी वैकुण्ठ को सूनाकर, विष्णु को ऐश्वर्य को फीका कर तथा नदियों और समुद्रों की उमंग को दूना कर ब्रज में प्रकट हो गयी हों।

टिप्पणी—इस कवित्त में भगवान श्रीकृष्ण के जन्मोत्सव का मनोरम चित्र उपस्थित किया गया है।

३-शब्दार्थ—धाये फिरौ—दौड़ते फिरते हो; बधाये—प्यारे; दुरे—छिपे।

भावार्थ—देव जी कहते हैं कि हे नन्दलाल जी! मैं मन्द-बुद्धि आप को कहाँ खोजूँ और कहाँ आप से भेंट करूँ? (हे प्रभो! आप का कोई निश्चित स्थान नहीं है।) सुना जाता है, आप कभी ब्रज की गलियों में दौड़ते फिरते हैं, कभी गोपियों के साथ रास रचाते हैं, गोपों की भीड़ में नाचते हैं, कभी कालिय नाग का दमन करने के लिए यमुना में कूद पड़ते हैं, कभी (कुरुक्षेत्र में) अर्जुन का रथ हाँकते हैं, कभी अंकुश की भाँति अपने नखों को तीक्ष्ण करके हिरण्यकश्यप के पेट को फाड़ देते हैं, कभी बिना साथी के अकेले ही कुवलयापीड़ हाथी को तीर द्वारा मार डालते हैं, कभी विदुर की भाजी, भीलनी शबरी के बेर और ब्राह्मण सुदामा के चावल चबाते हैं और कभी द्रौपदी के चीर में छिपे दिखायी पड़ते हैं।

टिप्पणी—इस कवित्त में भगवान की लीलाओं का वर्णन किया गया है। इसमें व्याजस्तुति अलंकार है।

४-शब्दार्थ—महीतल—पृथ्वी मंडल; लहत हौं—पाता हूँ; आठौ-जाम—आठों पहर।

भावार्थ—देव जी कहते हैं कि हे रामचन्द्र जी! मैं

आकाश रूपी मन्दिर में पृथ्वी के आसन पर आसीन करके आपको सम्पूर्ण विश्व के जल से स्नान कराने में प्रसन्नता मानता हूँ। मैं पृथ्वी मण्डल के समस्त फल-फूल पत्ती और मूल को सुगन्धित द्रव्यों के सहित आप पर चढ़ाना चाहता हूँ। पृथ्वी पर जो अग्नि और धूप है उस का अखण्ड दीपक जलाकर आपकी आरती करना चाहता हूँ और जल तथा स्थल में उत्पन्न होने वाले समस्त प्रकार के अन्नों का भोग लगाना चाहता हूँ। मैं वायु रूपी चवँर हर समय झलना चाहता हूँ। हे प्रभो! इस के अतिरिक्त मेरी कुछ भी कामना नहीं है। मैं आठों पहर आप की (इसी प्रकार) पूजा करना चाहता हूँ।

टिप्पणी—प्रस्तुत कवित्त में देव जी ने प्रभु की विश्व व्यापिनी पूजा के लिए बड़ी ही सुन्दर कल्पना की है।

५—शब्दार्थ—बारि बुन्द—जल की बूँद ; अनुकन—परमाणु ; निकेत—घर ; सुमति—सुन्दर शिक्षा।

भावार्थ—देव जी कहते हैं कि आत्मा ने अपने आप यह अनुभव किया कि परमात्मा की लीला से स्वर्ग पृथ्वी और पाताल तीनों सुई के छेद से बाहर निकल सकते हैं, चौदहों लोक एक भूखे भुनगे का भोजन हो सकता है, चींटी के अण्डे जैसे बर्तन में समूचा ब्रह्माण्ड समा सकता है, एक बूँद में सातों समुद्र हिलोरें मार सकते हैं, सृष्टि का स्थूल स्वरूप अपने सूक्ष्म स्वरूप में विलीन हो सकता है और पृथ्वी, जल, अग्नि, आकाश और पवन आदि पञ्चतत्व एक परमाणु में रह सकते हैं तथा नख की कोर या राई में सुमेर पर्वत दिखायी पड़ सकता है।

टिप्पणी—"भगवत्-कृपा से असम्भव बातें सम्भव हो

सकती है।" इसी धार्मिक विचार का निरूपण इस कवित्त में हुआ है।

६—**शब्दार्थ**—जंगम—चलने वाले ; भव संसार ; भरि पूरि— समाया हुआ, व्याप्त।

भावार्थ—देव जी कहते हैं कि हे प्रभो ! तुम्हीं पंच तत्व (पृथ्वी, जल तेज, वायु और आकाश) हो ; तुम्हीं सत्व, रज और तम हो ; संसार में जितने चर और अचर हैं वह भी तुम्हीं हो। मैं ने जब-जब तुम्हारा रहस्य जानने का प्रयत्न किया तब-तब मुझे यही ज्ञात हुआ कि यह सब तुम्हारी कला या विलास है। सभी तुझ से प्रकट होते हैं और तुझ में हो समा जाते हैं। हे प्रभो ! मैं संसार में जहाँ भी देखता हूँ वहाँ तू ही तू दिखायी पड़ता है। तुम सब को संजीवनी बूटी के समान जीवन-दान करते हो और तुम्हीं सब को मारकर धूल में मिला देते हो। तुम सब से दूर रहते हो और सब में व्याप्त भी रहते हो। (हे प्रभो ! तुम्हारी महिमा को भला कौन जान सकता है ?)

टिप्पणी इस कवित्त में अद्वैतवाद के सिद्धांत की व्याख्या की गयी है।

७—**शब्दार्थ**—गूढ़गति—मुक्ति ; नेह भरे—(१) प्रेम भरे (२) तेल भरे ; अमल जोति—विमल ज्योति।

भावार्थ—देव जी कहते हैं कि ऐ जीव ! (व्यर्थ में) मूर्ख क्यों बन रहा है, तू मुक्ति प्राप्त के लिए प्रयत्न क्यों नहीं करता ? तू अपने इन्द्रिय रूपी गुप्तचरों को सावधान कर दे और उनके द्वारा कामादि चोर को सरलता से नष्ट कर दे। तू अपने आंतरिक और बाह्य अज्ञानांधकार रूपी वन को

ज्ञान की अग्नि से जला दे। तू अपने स्नेह पूर्ण हृदय में ज्ञान रूपी दीपक की जो विमल ज्योति जलाये हुए है उसका प्रकाश यत्न से चारों ओर फैला दे। इस समय यदि मोह रूपी मेघ उमड़ घुमड़ कर आवे तो तू उसकी चिन्ता न कर क्योंकि यह मोह-मेघ स्वतः नष्ट हो जायगा। तेरी आँखों में माया का जो माड़ा छाया हुआ है उसे निकाल दे। (इस माया रूपी माड़े के नष्ट हो जाने से तुझे अपना सत-स्वरूप दिखायी पड़ने लगेगा।)

टिप्पणी—इस कवित्त में कवि ने बताया है कि माया से आच्छादित होने के कारण जीव अपने वास्तविक रूप को नहीं देख सकता। इसके हटते ही उसे अपना सत्-स्वरूप दिखाई पड़ने लगेगा।

८—शब्दार्थ—ख्याल—खेल; खाल में मढ्यौ फिरै—शरीर का आवरण धारण किये हुए है।

भावार्थ—देव जी कहते हैं कि देवता, राक्षस, मनुष्य, नाग, किन्नर, प्रेत, पशु, पक्षी, पहाड़ और अन्य जड़ पदार्थ सभी करोड़ों की संख्या में उस (ब्रह्म) से उत्पन्न होते हैं। ये सभी जीव मायिक त्रिगुण के कारण उत्पन्न होते हैं। ये काल की प्रेरणा से पांचभौतिक शरीर को धारण करते हैं और फिर नष्ट हो जाते हैं। यह ब्रह्म स्वयं भक्ष्य और भक्षक तथा अदृश्य-दृश्य है। यह आप ही पंडित और आप ही मूर्ख बना फिरता है। यह स्वयं ही शस्त्र है, मारने वाला है और मरने वाला है। यह स्वयं पालकी पर चढ़ने वाला है और उसे स्वयं ढोने वाला है।

टिप्पणी—इसमें अद्वैत ब्रह्म का सरस वर्णन किया गया है।

९—शब्दार्थ—ललाट—मस्तक; भाट—वंदीजन; कपट-कपाट—कपट के किवाड़।

भावार्थ—देव जी कहते हैं कि ऐ जीव! यदि अष्ट-सिद्धियाँ आठों पहर तेरे घर के सामने खड़ी रहती हैं और विधाता ने तेरे मस्तक में नवनिधियों का स्वामी होने को लिखा है, तू महाराजाओं का अधिपति है और तेरा ठाट-बाट और वैभव बहुत है, बन्दीजन अपनी बुद्धि के अनुसार नित्य तेरी कीर्ति का गायन करते हैं और तेरे अधिकार में त्रिलोकी का राज्य भी है तो तू क्यों मलीन और दीन बनकर दर-दर भटक रहा है? तेरी अंतरात्मा से जो (सोऽहं सोऽहं की) ध्वनि निकल रही है उसे तू क्यों नहीं पहचानता? (अच्छा होगा कि) तू अपने हृदय में बन्द किये गये कपट रूपी कपाट को खोल दे (और इस ध्वनि से परिचय करके अपना काम बना ले।)

टिप्पणी—इसमें अद्वैत सिद्धान्त के अनुसार जीव और ब्रह्म की एकता दिखायी गयी है।

१०—शब्दार्थ—हौं ही—मैं ही; स्याम रंग अवलीन की—श्याम रंग की भवँरों की।

भावार्थ—देव जी कहते हैं कि मैं ही व्रजभूमि हूँ, मुझ में ही वृन्दावन स्थित है और यमुना की श्याम वर्ण की तरंगें व भवँरें मुझ में ही तरंगित होती हैं। यहीं पर चारों ओर सुन्दर सघन वन दिखलायी पड़ते हैं और कुंजों में भ्रमरों की गुंजार सुनाई पड़ती है। वंशीवट के नीचे नटनागर श्रीकृष्ण जी रास रचाकर नृत्य करते हैं इस रास में बीन की मधुर ध्वनि में तान और ताल के थाप की भनक भर रही है और बीच-बीच में

गोपियों के चूड़ियों की धीमी-धीमी झनकार भी सुनायी पड़ती है।

टिप्पणी—अध्यात्म की दृष्टि से इस कवित्त में रास-विलास का हृदयहारी वर्णन किया गया है।

११—शब्दार्थ—खुलायो—मुक्त हुआ है ; लबारन लोग—मूर्ख लोग।

भावार्थ—पंडितों ने वेद-पुराण पढ़-पढ़कर गवाँर लोगों को अच्छा भुलावा दिया। बताइए, तपस्या करके कौन इन्द्रासन का अधिकारी हुआ और किसने यमराज के बंधन से मुक्ति पायी ? इस के अतिरिक्त पृथ्वी से लेकर सुमेरु पर्वत तक के मध्य में कौन ऐसा प्राणी हुआ जिसने वस्तुतः कुबेर की सम्पत्ति पर अधिकार कर लिया हो ? (मेरी समझ में) पाप, पुण्य, नरक और स्वर्ग कुछ भी नहीं है। जो मर जाता है, वह एकदम मर जाता है और उसका पुनर्जन्म नहीं होता।

टिप्पणी—इस कवित्त में पुनर्जन्म के सिद्धान्त का खण्डन किया गया है।

१२—शब्दार्थ—मूढ़—मूर्ख ; भौन—भवन ; छार परे—राख हुए।

भावार्थ—देव जी कहते हैं कि भला कहीं मरे हुए व्यक्ति का पुनर्जन्म होता है ? पर मूर्ख ऐसा विश्वास करते हैं कि यदि वे इस संसार में अपने घर की सारी सम्पत्ति दान कर देंगे तो वह उन्हें अगले जन्म में मिलेगी। यह सोचकर वे अपना सर्वस्व लुटा देते हैं और फिर धन के नष्ट हो जाने पर अपनी करनी पर खिसियाते व पश्चात्ताप करते हैं। ऐसे लोग जब तक जीवित रहते हैं तब तक हरे कल्पवृक्ष के समान

अपने सुन्दर शरीर को व्रत रहकर और वायु पीकर सुखा देते हैं। ये मूर्ख ऐसे मन्द-बुद्धि हैं कि मृतक का बड़ी हो श्रद्धा के साथ श्राद्ध-कर्म करते हैं।

टिप्पणी—इस सवैये में चार्वाक के "भस्मी-भूतस्य देहस्य पुनर्जन्म न विद्यते" की पुष्टि की गयी है।

१३—शब्दार्थ—विन से हूँ—नष्ट होने पर भी; बिसेखु—विशेषता ; तापर—तिसपर।

भावार्थ—देव जी कहते हैं कि सभी व्यक्ति स्त्री-पुरुष के रज-वीर्य के संयोग से ही उत्पन्न हुए हैं और मरने पर सभी भस्म होकर अपनी राख पृथ्वी पर छोड़ जाते हैं। सभी के शरीर का ढाँचा कुम्हार के बर्तन के समान एक ही तरह का होता है। किसी में कुछ विशेषता नहीं होती है तिस पर भी ये पंडितगण स्वयं अपने को ऊँचा बताते हैं और दूसरों को नीचा बताकर उस से अपना पैर पुजाते हैं। अरे! इन ब्राह्मणों ने ही शूद्रों में अपवित्रता और अपने में पवित्रता का आरोप किया है। इन्होंने वेदों का अंट संट अर्थ करके अंधेर कर दिया है।

टिप्पणी—इस में वर्ण-व्यवस्था और ऊँच नीच के भेद-भाव को बहुत बुरा कहा गया है।

१४—शब्दार्थ—मूक—गूँगा ; औघट—रद्दी घाट ; रुची राच्यौ—रुचि लग गयी।

भावार्थ—देव जी कहते हैं कि मैं ने बड़े-बड़े राज-दर्बार में ज्ञान-चर्चा कर यह भली-भांति देख लिया है कि वहाँ पर स्वामी अंधा और गूँगा होता है, सभा बहिरी होती है और वह अपने राग-रंग में ही मस्त रहा करती है। ज्ञानी लोग ऐसे स्थानों में पहुँचकर इतना भटक जाते हैं कि उन्हें

घाट-कुघाट कुछ भी नहीं सूझता है और वे नारकीय कर्मों को अपनाने लग जाते हैं। वहाँ पर उन्हें अपना (ज्ञानी का) भेष नहीं सूझता, यदि उनसे कोई कुछ कहता है तो भी वे उस पर कान नहीं करते; वे न जाने किस उमंग में फूले फिरते हैं और पागल नट की भांति रात भर ज्ञान चर्चा करने में मस्त रहा करते हैं।

टिप्पणी—इस सवैये में देव जी ने बताया है कि अनधिकारियों के सामने ज्ञान-चर्चा करने से अपनी प्रतिष्ठा स्वयं घट जाती है और ज्ञान-चर्चा का कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता है।

१५—शब्दार्थ—हाय दई—हाय दैव ; मीच पै—मृत्यु से; मही—पृथ्वी ; अदेव—राक्षस।

भावार्थ—देव जी कहते हैं कि हाय दैव ! काल की इस लीला में पड़कर, सभी प्राणी फूल की भाँति फूलकर सदा के लिए कुम्हला गये। मृत्यु ने इस संसार में किसी को नहीं छोड़ा। जो (प्राणी) उत्पन्न हुए थे वे सभी मिट्टी में मिल गये। कहाँ तक कहूँ, देवता और राक्षस, बली और अशक्त, रूपवान् और कुरूप तथा गुणी और गुणहीन सभी मोह की हवस लिए हुए इस संसार से विदा हो गये। जो जहाँ पैदा हुआ था, वहीं नष्ट हो गया।

टिप्पणी—इस सवैये में बताया गया है कि काल-चक्र के कारण सभी प्राणियों की एक न एक दिन अवश्य मृत्यु हो जायगी।

१६—शब्दार्थ—जिये हृदय की ; गहि आवत नाहीं—पकड़ में नहीं आता।

भावार्थ—देव जी कहते हैं कि यदि कोई मुझ से मेरे हृदय का हाल पूछे तो मैं उस से यही कहूँगा कि मेरे हृदय में

इतनी पीड़ा भरी हुई है जिसका अंत नहीं दिखयी पड़ता विद्वानों ने ब्रह्म-दर्शन के हेतु जिन मत-मतान्तरों की सृष्टि की है वे सब मिथ्या हैं, इन्हें तो मौन होकर भी नहीं सहा जा सकता। मेरा मन (लोभ रूपी) नदियों की तरंगों में फेन होकर बह रहा है, यह अब मेरी पकड़ में नहीं आता। मैं यद्यपि (ब्रह्म और जगत के सम्बन्ध में) बहुत कुछ कहना चाहता हूँ किन्तु क्या कहूँ, कुछ कहा नहीं जाता।

टिप्पणी—इस सवैये में देव जी ब्रह्म और जगत का अनिर्वचनीय सम्बन्ध वर्णन कर रहे हैं।

१७—शब्दार्थ—दीपति—प्रकाशित होता है; सुधारस बोरी—अमृत से सनी हुई।

भावार्थ—देव जी कहते हैं कि संपत्ति सब को सुख देने वाली है किन्तु सम्पत्ति का सुख दाम्पत्य-प्रेम है जो कि विश्वास पर आधारित है। यह विश्वास भी शुद्ध प्रेम स्वरूप है और यह विशुद्ध प्रेम विवेक तथा स्नेह पूर्ण गीतों में ही प्रकट होता है। ये विचारपूर्ण गीत तभी सफल हैं जब कि इनकी भाषा कोमल और अमृत के समान मधुर हो। यह वाणी प्रधानतया शृंगार रस का वर्णन करती है। इस शृङ्गार के सर्वस्व युगल सरकार राधा-कृष्ण हैं।

टिप्पणी—देव जी ने इस सवैये में राधा-कृष्ण की युगल मूर्ति को ही काव्य का सर्वस्व माना है।

१८—शब्दार्थ—उदधि—समुद्र; दधि—दही; फरश—फर्श; आरसी—दर्पण; अम्बर—आकाश।

सन्दर्भ—देव जी किसी ग्रीष्म रात्रि का—जिसमें चन्द्रमा तारागणों के सहित प्रकाशित है, वर्णन कर रहे हैं—

भावार्थ—आकाश का यह श्वेत मन्दिर स्फटिक की शिलाओं से निर्मित हुआ है, इसकी अत्यधिक श्वेतता दधि-सागर की तरंगों की भाँति उमड़ी सी जान पड़ती है। यह मन्दिर इतनी विचित्रता के साथ बनाया गया है कि बाहर से भीतर तक चाहे जहाँ दृष्टि डालिए, दीवार कहीं नहीं दिखायी देती। इस मन्दिर के आँगन का फ़र्श इतना श्वेत है मानों दूध का फेन चारों ओर फैला हुआ है। इस मन्दिर में कोई स्त्री (चन्द्रमा से तात्पर्य) मल्लिका के मकरंद से सुवासित और मोतियों से वेष्टित हो शोभा पा रही है इसकी झिलमिल ज्योति तारात्रों के झिलमिल प्रकाश के समान है। दर्पण जैसे विशाल आकाश में इस नायिका (चंद्र) की उजियाली राधिका के शरीर की आभा के समान प्रतीत होती है और इसका मुख राधिका के प्रतिबिम्ब के समान दृष्टिगोचर होता है।

टिप्पणी—ग्रीष्म रात्रि के आकाश का यह बहुत ही सुन्दर वर्णन है।

१६—शब्दार्थ—पौरि—ड्योढ़ी ; गुनयतु हैं—वर्णन करते हैं।

भावार्थ—देव जी कहते हैं कि आज सुनाई पड़ रहा है कि महाराज ब्रजेश श्रीकृष्ण जी सुन्दरतापूर्वक सुसज्जित होकर राधिका जी के भवन पधारे हैं तभी तो उनकी ड्योढ़ी तक पावँड़े बिछे हैं, घर-घर में धूपबत्ती सुलगायी गयी है जिसका सुगन्धित धुआँ आकाश में छा रहा है। अतर, चन्दन, सुन्दर चोवारस और कपूर आदि की सुगन्धि चारों ओर फैल रही है, हजारों दीपक प्रकाशित होकर सारे अंधकार को दूर कर रहे हैं और मधुर-मृदङ्ग अपने राग-रंग की तरंगों में गोपियों के अंग-अंग का सुन्दर गायन कर रहा है।

टिप्पणी—व्रजराज के शुभागमन का इस कवित्त में कमनीय चित्र चित्रित है।

२०—शब्दार्थ—चितौति—देखती हुई; छीन—मलीन; जामिनि—रात्रि; जोन्ह—चन्द्रिका।

सन्दर्भ—कोई वियोगिनी प्रातःकाल के समय प्राची की लालिमा देखकर कहती है।

भावार्थ—(वियोगिनी) चकई की मनचाही बात पूरी हुई। वह चारों ओर प्रकाश होता देखकर प्रसन्नता से नाच उठी, इस समय चन्द्रमा (जिसने रात्रि भर प्रकाश किया था) की आभा इस प्रकार मलीन हो गयी मानों उसे यमराज ने नष्ट कर दिया हो। मेरे ये बैरी पक्षी भी चहकने लगे हैं। मैं क्या कहूँ, मेरे समस्त शत्रुओं के घर में ऐसी प्रसन्नता छायी हुई है मानों उन्हें बहुत सा धन मिल गया हो। जान पड़ता है कि इस प्राची राक्षसी ने किसी वियोगिनी का रक्त पान कर अपना मुख लाल किया है।

टिप्पणी—प्राची की लालिमा का इसमें बहुत ही वर्णन किया गया है। भारतेन्दु जी ने इसे अपने 'सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक में उद्धृत किया है।

२१—शब्दार्थ—सच्यौ—संचित किया; लोभ भाँड़े—लोभ के बर्तन

भावार्थ—देव जी कहते हैं कि रोने बिलखने पर गर्भ-यातना से मुक्ति पाया हुआ जीवन रूपी कच्चा दूध लोभ के बर्तन में संचित किया गया फिर काम-वासना की तुष्टि के लिए उसे क्रोध की आँच से तपाया गया। इस जीवन रूपी दूध में जब उफान आया तो क्षमा रूपी जल के शीतल छींटों से शान्त न किये जाने पर इसका अधिकांश बह गया। जो बचा भी

इसमें गुरु का उपदेश रूपी जावन ठीक से न पड़ने पर अच्छा दही न बन सका। फिर यदि इसको विवेक की मथानी से भली प्रकार मथा नहीं गया और भुक्ति (भोगविलास) को नहीं छोड़ा गया तो मक्खन रूपी मुक्ति कहाँ प्राप्त हो सकती है? इस प्रेम रूपी मक्खन के विना जीवन का सारा आनन्द धूल में पड़ जाता है अर्थात् सारा आनन्द किरकिरा हो जाता है।

टिप्पणी—प्रस्तुत कवित्त में सांगरूपक है। इस रूपक के द्वारा कवि ने स्पष्ट कर दिया है कि प्रेम के विना मानव-जीवन सरस नहीं हो सकता।

२२—**शब्दार्थ**—साँचे करि कर मैं—सत्य को अपने अधिकार में करके; पाँचन—पंच, समाज; ऐंठौ—गर्व करो।

भावार्थ—देव जी कहते हैं कि जो अनेक प्रकार से (प्रेमपात्र के दर्शनादि की) अपनी एक मात्र अभिलाषा का पोषण करता है और संसार में प्रेम-पात्र के अतिरिक्त कुछ भी नहीं देखता है, जो प्रेमपात्र से मन लग जाने पर अपना तन-मन (सर्वस्व) निछावर कर देता है और सत्य को अपने हाथ में करके अपनी रुचि के अनुसार प्रेम करता है, जो समाज की (निन्दा रूपी) आँच से संतप्त होकर भी अपने प्रेम को नहीं छोड़ता और अपने प्रेम की सत्यता उसी प्रकार प्रमाणित करता है जिस प्रकार सती चिता में जलकर अपने सतीत्व को प्रमाणित करती है। कोई चतुर नीतिज्ञ कहता है कि यों ही (संसार में लेन-देन का व्यवहार निभाकर और उसे प्रेम की संज्ञा देकर) गर्व न कीजिए प्रत्युत बड़े से बड़ा कष्ट सहने के लिए अपने को तैयार कर प्रेम के घर में घुसने की चेष्टा कीजिए।

टिप्पणी—प्रेम-मार्ग वस्तुतः बहुत विकराल है, इस पर चलना टेढ़ी खीर है।

२३—शब्दार्थ—वादि कै—शास्त्रार्थ करके ; लरि मरौ—बलिदान हो जाओ।

सन्दर्भ—श्रीकृष्ण के प्रेम में रँगी हुई कोई गोपी अपना उपहास सुनकर कहती है

भावार्थ—जिन्होंने वेदाध्ययन किया है, उन्हें शास्त्रार्थ करके प्रसिद्धि प्राप्त करनी चाहिए और जिसे लोक-मर्यादा का ज्ञान है उसे लोक-मर्यादा की रक्षा के लिए बलिदान हो जाना चाहिए। जिन्होंने तप करना सीखा है उन्हें त्रयताप से तप्त होकर पंचाग्नि की साधना करनी चाहिए और इस प्रकार प्रयत्न करते हुए समाधिस्थ हो जाना चाहिए। योग के जानने वाले योगी भी युग-युग जीते रहें। ब्रह्म-ज्योति को जानने वाले इन योगियों को ज्योति को लेकर जल मरना चाहिए। हे नन्दलाल श्रीकृष्ण जी ! मैं तो अब आपकी दासी हो चुकी हूँ भले ही संसार के करोड़ों व्यक्ति मेरा उपहास करते रहें। (इसका प्रभाव मुझ पर कुछ भी न पड़ेगा।)

२४—शब्दार्थ—ठाढ़ेई—खड़े रहते हैं ; कलंकनि-पंकनि—कलङ्क रूपी कीचड़।

भावार्थ—देव जी कहते हैं कि यदि मन रूपी माणिक्य गाँठ से खुलकर गिर जायगा तो फिर किसी प्रकार मिलने का नहीं, भले ही सम्पूर्ण विश्व इस के खोजने में व्यस्त हो जाय। इस मायिक जगत् में स्थान-स्थान पर (काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद आदि) चोर छिपे खड़े हैं, यह इतने निर्दयी हैं कि किसी के रोने और चिल्लाने पर भी तनिक नहीं पसीजते। ऐ जीव ! अपना मन उसी को देना चाहिए जो उस के साथ समता का व्यवहार करे और कलंक रूपी कीचड़ को धोकर साफ़ कर दे

इसलिए तू अपने मन-माणिक्य को बुद्धि वधू को सौंप दे, वह इसे यत्नपूर्वक सँभाल कर रक्खेगी। तू इस मन-माणिक्य को धोखे में न खो।

टिप्पणी—इस सवैये में बुद्धि द्वारा मन को वश में करने के लिए कहा गया है। बुद्धि-वधू को मन रूपी माणिक्य सौंपकर कवि ने अपनी लोकव्यवहार-दक्षता का परिचय दिया है।

२५—शब्दार्थ—घनस्याम—श्रीकृष्ण रूपी मेघ ; भाजी—भाग गयी।

भावार्थ—देव जी कहते हैं कि श्रीकृष्ण रूपी मेघ ने आनन्द रूपी जल की घनघोर वृष्टि की जिस से प्रेमनदी पूर्ण रूप से भर गयी और उसमें बाढ़ आ गयी। इस प्रेमनदी के किनारे स्थित मन-मन्दिर अचानक प्रवाह के वेग से ढह गया। फिर क्या था, विषय रूपी बन्धु डूब गये, मद-मोह रूपी पुत्र आदि दब गये। (मन का) मित्र अहङ्कार भी मूर्छित होकर गिर पड़ा और मर गया। आशा और तृष्णा आदि बहू-चेटियाँ मन रूपी मन्दिर से निकल भागीं। माया रूपी स्त्री तो देहरी पर भी खड़ी न रह सकी। इस प्रकार सब के सब नष्ट हो गये, किसी का कहीं पता न चला। अन्त में वन के एकान्त स्थल में जीव ने बसेरा लिया।

टिप्पणी—भगवान के प्रेमानन्द में तल्लीन होने से, विषयादि की वासना नष्ट हो जाती है और जीव प्रेममय हो जाता है। इस बात को देव जी ने सांग-रूपक के सहारे बड़ी सुन्दरता से व्यक्त किया है।

२६—शब्दार्थ—तिमिर—अन्धकार ; स्याम रङ्ग—काला रङ्ग।

भावार्थ—देव जी कहते कि अचानक ही स्याही का अथाह समुद्र इतना उमड़ आया कि उस में तीनों लोक एक साथ डूब गये। (इस समय प्रिय का जो प्रेमपत्र पढ़ने के लिए मिला) वह जामुन के काले रस के समान जमुना जल से लिखा गया था, इस का कागद काला था और अक्षर भी काले थे। अमावस की अँधेरी रात्रि में जब कि आँखों में घोर अन्धकार छाया हुआ था, यह पढ़ने को मिला। ऐसे समय में इन काले अक्षरोंको कौन पढ़ सकता था? निदान मेरा चित्त चक्कर खाने लगा और मन हाथ में न रहा। यह मन श्याम रंग होकर श्याम-रंग में समा गया।

टिप्पणी—देखिए, देव जी ने श्याम रंग की श्यामता के लिए अपने कल्पना-तुरंग को कितना दौड़ाया है! श्याम रंग होकर श्याम रंग में समा जाना और स्वयं श्याममय हो जाना बड़ी ही रमणीय कल्पना है। इसमें अतिशयोक्ति है।

२७—शब्दार्थ—रह्यौ मुख मूँदि अजौं—अब भी लज्जा कर; अनीत—अन्याय।

भावार्थ—कोई गोपी अपने मन को समझाती है कि ऐ मन! प्रेम रूपी अथाह सागर में पड़कर भी तू गर्व रूपी फेन को क्यों पकड़ रहा है? ऐ बहिरे मन! तू क्रोध की तरंगों में बहा जा रहा है तो बहता चल। तू लाज की जहाज से कूदकर अब क्यों पछता रहा है और गुहार लगा रहा है? ठहर, अब भी तनिक लज्जा कर। हे मन! तू स्वयं ही प्रेम को जोड़ता और तोड़ता है। इसलिए अब अपने अन्याय को तू ही सहन कर।

टिप्पणी—इसमें रूपक अलंकार है। जो अनीति करे वही उसके फल को भुगते कितना सच्चा न्याय है!

२८—शब्दार्थ—हारी—थक गयी ; सँभार—रक्षा ; बाधा-सिन्धु—आपत्ति के समुद्र ।

भावार्थ—देव जी कहते हैं कि ऐ मन ! तेरे कहने के अनुसार कार्य करने पर मुझे त्रयताप में जलना पड़ रहा है, मैं तेरे पैर पड़ते-पड़ते (प्रार्थना करते-करते) थक गयी किन्तु फिर भी तू ने (जीव की) रक्षा न की। ऐ कपटी और चंचल मन ! प्यारे को देखकर तूने तुरन्त पलकें बन्द नहीं कीं प्रत्युत उन्हें खुले रखकर तू मुझे बेचैन करता रहा। तू ने ऐसे निर्मोही के प्रेम-पाश में मुझे बाँध दिया जिसके कारण मैं निराश्रित होकर आपत्ति के समुद्र में डूब गया। तूने मुझे बहुत दुख दिये हैं इसलिए (प्रतीकार चुकाने के लिए) मैं पलक रूपी किवाड़ में बन्द करके तुझे एक बार में मूँद मारूँगा। ।

टिप्पणी—मन ने जीव की कई बार साँसत की है अब अवसर पाने पर इसे ऐसा दण्ड दिया जा रहा है जिससे इसके होश ठिकाने आ जायँगे ।

२९—शब्दार्थ—विषै—विषय-वासना ; वारिधि—समुद्र ।

भावार्थ—देव जी कहते हैं कि ऐ मन ! यदि मैं ऐसा जानता कि तू विषयों की संगति करेगा तो मैं तेरा हाथ-पैर तोड़ देता। तेरे ही कारण मैंने आज तक कितने नरेशों की 'नाहीं' सुनी। यदि तू मुझे बाध्य न करता तो मैं क्यों उनकी ओर अभिलाषा भरी दृष्टि से ताकता और उनका निहोरा मानता। यदि मैं तेरे कपट से तनिक भी परिचित होता तो मैं तुझ जैसे चंचल को एक डग भी न बढ़ने देता और चेतावनी रूपी चाबुक तेरे मुँह पर मारकर तुझे अचल किये रहता। यही नहीं, मैं डौंड़ी पीटकर तेरे गले में भारी प्रेम-पत्थर बाँध देता और तुझे श्रीकृष्ण के सुयश-समुद्र में डुबा देता।

टिप्पणी—'आजु लौं ..बदन निहोरतो'—में कवि के जीवन पर प्रकाश पड़ता है। देव जी किसी एक राजा के आश्रय में जीवन-पर्यन्त नहीं रहे। इन्हें एक के पश्चात् दूसरा और फिर तीसरा आश्रयदाता ढूँढ़ना पड़ा था। देव जी को ऐसे अवसरों पर बहुत कष्ट उठाना पड़ा था। इस कवित्त में उनकी झुँझलाहट दर्शनीय है।

३०—शब्दार्थ—धाय—दौड़कर ; उकसीं—निकल सकीं; चितैं—देखकर ; चेरी—दासी।

भावार्थ—कोई गोपी कहती है कि मेरी आँखें मधु-मक्खियों की तरह प्यारे (श्रीकृष्ण) के सौन्दर्य-रस के लोभ में पड़ गयीं और मेरे मना करने पर भी हठात् उनकी दासी हो गयीं। मेरा इन पर कुछ भी वश न चल सका। ये दौड़कर श्रीकृष्ण के सौन्दर्य-रस की धार में निरवलम्ब होकर पैठ गयीं। (लोभ रूपी) अँधेरे के कारण इन्हें कुछ भी न दिखायी पड़ा और ये उसमें बुरी तरह फँस गयीं। जब अँगड़ाई लेकर इन्होंने निकलने की चेष्टा की तब लुढ़ककर और गहरे जल में चली गयीं और तुरन्त ही इनके पंख डूब गये। इसके पश्चात घेरा डालने पर न तो ये घिर सकीं और न लौटाने का प्रयत्न करने पर लौट ही सकीं।

टिप्पणी—मधु-मक्खियों का यह साँग रूपक अत्यन्त मनोहर है।

३१—शब्दार्थ—काल—समय, अवधि ; रजनी—रात्रि ; अजौं दिनु—इस समय भी।

भावार्थ—कोई विरहिणी गोपी कहती है कि अवधि रूपी कालिय सर्प के भयंकर विष की ज्वाला के कारण यमुना

का जल रात-दिन जला जा रहा है, इसकी लपट वृक्षों को नष्ट कर अकेली बह रही है। पृथ्वी तथा आकाश के जीव-जन्तु भी जले जा रहे हैं। मैं इस कालिय के फन की फाँस में फँस गयी हूँ और अब तक निकलने का प्रयत्न करने पर भी नहीं निकल सकी हूँ। हे व्रजपति श्रीकृष्ण जी ! आप शीघ्र ही आकर मेरी रक्षा कीजिए अन्यथा आपके बिना मैं अनाथ हो रही हूँ।

टिप्पणी—इस में भी रूपक अलंकार है। यह विरह-वर्णन अत्यन्त स्वाभाविक और उत्कृष्ट है।

३२—शब्दार्थ—कंचुकी—चोली ; साँवरे लाल—श्रीकृष्ण।

भावार्थ—कोई गोपी कहती है कि मैं ने श्रीकृष्ण के प्रेम को शिरोधार्य कर लिया है इसलिए कस्तूरी का विन्दु मैं ने मस्तक पर लगा रक्खा है और चोली में चोवा लगाकर उसे उमंग के साथ वक्षस्थल पर धारण कर लिया है। मैं ने मखतूल के आभूषण गूँथ कर उसे पहन रक्खा है। यही नहीं, मैंने अपनी आँखों को कज्जल युक्त करके उसे काले श्रीकृष्ण के निवास के अनुरूप बना दिया है। इस प्रकार सजधज कर मैं साक्षात शृंगार की मूर्ति बन गयी हूँ और उसका आनन्द ले रही हूँ। (विश्वास है, शृंगार शिरोमणि श्रीकृष्ण जी मुझे अवश्य आनन्दित करेंगे।)

टिप्पणी—इस कवित्त में वासकसज्जा नायिका के शृंगार का वर्णन किया गया है। इसकी अंतिम पंक्ति अत्यन्त मनोहर है।

३३—**शब्दार्थ**—रैन—रात्रि ; इन्दु—चन्द्रमा ; दिनेस—सूर्य ; जुन्हाई—चन्द्रिका ; ऊन—कम ।

सन्दर्भ—कोई विरहिणी गोपी भ्रमवश शरत् काल की रात्रि को ग्रीष्म काल का दिन समझकर अपनी सखी से कहती है—

भावार्थ—हे सखी ! देखो, रात्रि दिन है, चन्द्रमा सूर्य है और चन्द्रिका विष के समान दाहक घोर धूप है। पुष्पों की शैया तथा सुगन्धित रेशमी वस्त्र मेरे शरीर में शूल की भांति चुभ रहे हैं और रुई लपेटी आग के समान चुपके से ये मेरे शरीर को जला दे रहे हैं। भूमि की बाहरी और भीतरी हरियाली भी न्यून होती जा रही है। (ग्रीष्म काल के इन लक्षणों के स्पष्ट प्रतीत होने पर भी) लोग इसे शरत् ऋतु का आरम्भ बता रहे हैं। बता, क्या मैं ही भ्रम में पड़ गयी हूँ या सभी भूल में पड़े हुए हैं।

टिप्पणी—विरहिणी की सम्मति में शरत् ऋतु को ग्रीष्म ऋतु कहा जाना चाहिए। इस सवैये के पूर्वार्द्ध में अपह्नुति और उत्तरार्द्ध में भ्रम अलंकार है।

३४-**शब्दार्थ**—वसन—वस्त्र ; जामिनि—रात्रि ।

भावार्थ—कोई दूती कहती है कि उस वियोगिनी के नेत्रों की बरौनियाँ बाघम्बर के समान हैं और दोनों पलकें गूदड़ी के समान हैं। विरहिणी की आँखों में जो लालिमा छायी हुई है वही इस (जोगिनि) का भगवा वस्त्र है। ये रात-दिन जागती हैं और जल में डूबी रहती हैं। विरहानल का धुआँ शिर तक पहुँच

रहा है, इस धुएँ के कारण आँखें बिलख रही हैं। इस योगिनी ने आँसुओं की स्फटिक-माला पहन रक्खी है और (आँखों की) लाल रंग की रेखाओं की सेल्ही पहन रक्खी है। ये योगिनी आँखें संग की चेलियों और सखियों का साथ छोड़कर अब अकेली हो गयी हैं। हे कृष्ण प्यारे! आप यथाशीघ्र दर्शन देकर इन आँखों को अपनी संगिनी बनाकर रखिए क्योंकि ये पूर्णरूप से योगिनि के समान हो गयी हैं।

टिप्पणी—इस कवित्त में वियोगिनी की आँखों का करुणोत्पादक चित्र खींचा गया है। इसमें सांग रूपक है।

१५—शब्दार्थ—कंत—प्यारे; वासर—दिन; त्रिविधि समीर—शीतल, मन्द और सुगन्धि से युक्ति वायु; दहकन—जलने लगे।

सन्दर्भ—वसन्त ऋतु में कोई नायिका प्रियतम के आगमन का अनुमान करके शृंगार करती है किन्तु प्रियतम के न आने पर उसे इस प्रकार का संताप होता है—

भावार्थ—प्यारे के बिना वसन्त के दिन काल के समान दुखदायी हो रहे हैं, इस समय की शीतल, मंद और सुगन्धि से युक्त वायु तीर की भांति हृदय को वेध रही है। शरीर पर लगे हुए चन्दन और कपूर अत्यन्त तीक्ष्ण भाले के समान दुखदायी हो रहे हैं, कस्तूरी सहककर घोर दुख उत्पन्न कर रही है। मुझे फुलेल फाँसी के समान, गुलाब का इत्र तीर की तीक्ष्ण गाँसी के समान और अरगजा गाज के समान लग रहा है। मेरे शरीर पर चोवा का जो लेप लगा हुआ है

वह चहक कर मुझे दुखी बना रहा है। केशर का जल शरीर में आग लगाता है जिससे चीर जलने लगा है और अबीर दहकने लगा है।

टिप्पणी—देखिए संयोग में आनन्द देने वाली वस्तुएँ वियोग में किस प्रकार दुखदायी हो जाती हैं।

३६—शब्दार्थ—चातक—पपीहा ; दल—पत्ती।

सन्दर्भ—पावस ऋतु में श्रीकृष्ण जी वाटिकाओं में घूमने निकले हैं, उस समय की शोभा का वर्णन कोई गोपी कर रही है।

भावार्थ—हे सखी ! वृन्दावन की शोभा तृणों और पत्तों की हरियाली से एकदम नवीन हो गयी है, देखो, मेघ की श्यामल घटाएँ घिर रही हैं। इन को देखकर पपीहे और मोर हर्ष ध्वनि कर रहे हैं और कोकिल चारों ओर कूक रही है। इस समय सुन्दर और हरी लताएँ वायु के झोंकों से झुक रही हैं और हहरा रही हैं तथा श्रीकृष्ण जी (पपीहे, मोर और कोयल की ध्वनियों को सुनकर) आनन्दित हो बड़े प्रेम से अचूक प्रभाव रखने वाली रागों का गान कर रहे हैं।

टिप्पणी—इस सवैये का प्रकृति-वर्णन स्वाभाविक है।

३७—शब्दार्थ—कुलटा—दुष्टा ; न्यारी—अलग ; टेक—हठ ; वाहि—उस

सन्दर्भ—श्रीकृष्ण के प्रेम में मस्त कोई गोपी कहती है—

भावार्थ—लोग मुझे चाहे कुलटा कुलीना, अकुलीना, गर्विनी, कलंकिनी या दुष्टा भले ही कहें (पर इस की मुझे कोई चिन्ता नहीं।) मैं ने लोक-मर्यादा की लीक से अलग हटकर कुमार्ग पर पैर रक्खा है इसलिए नरलोक और परलोक जैसे श्रेष्ठ लोकों के व्यवहार की बात क्या जानूँ ? मेरा शरीर छूट जाय, मन छूट जाय, गुरुजन छूट जायँ यहाँ तक कि प्राण छूट जाय तो भी मैं अपने हठ को नहीं छोड़ सकती। मैं पीताम्बर और मोर-मुकुट धारण करने वाले वृन्दावन के वनवारी की मूर्ति पर निछावर हूँ।

टिप्पणी—देखिए, इस गोपी की लगन कितनी ऊँची है। बलिहारी !!

७—हरिश्चन्द्र

—::❀::—

हरिश्चन्द्र के काव्य की पृष्ठभूमि—भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र का काव्य-काल रीति काल की समाप्ति और आधुनिक काल के आरम्भ का संधिकाल है। रीति काल की समाप्ति होते होते भारत में अंग्रेजी राज्य पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित हो गया था अँग्रेजों के सम्पर्क और उन की शिक्षा के प्रभाव से भारतवासियों के हृदय में नवीन भावनाओं का सञ्चार होने लगा। हिन्दी साहित्य में अभी तक भक्ति और शृंगार सम्बंधी रचनाएँ पुरानी वेष-भूषा धारण किये चली आ रही थीं। गद्य साहित्य का तो एकदम अभाव ही था। नयी शिक्षा से प्रभावित होकर धीरे-धीरे कुछ देश-प्रेमी सज्जनों ने इस अभाव की पूर्ति करनी चाही। इन में सर्वाधिक सफल प्रयास भारतेन्दु जी ने किया। संवत् १९२२ में जब इन्होंने जगन्नाथपुरी की यात्रा की तो इन्हें बंग भाषा में नये ढंग के नाटक, निबन्ध और उपन्यास आदि दिखायी पड़े। हिन्दी में ऐसे नवीन साहित्य का अभाव उन्हें खटका। फिर तो सं० १९२५ में इन्होंने 'विद्या-सुन्दर नाटक' का बंगला से हिन्दी में अनुवाद किया। इसके पश्चात् इन्होंने बहुत से नाटक लिखे जिनमें कुछ तो मौलिक हैं और कुछ अनूदित हैं। इसके अतिरिक्त इन्होंने निबंध, गद्य-काव्य, जीवन-चरित और इतिहास भी लिखे। कहा जाता है कि अपने जीवन के अंतिम दिनों में उपन्यासों को लिखने की ओर भी आकृष्ट हुए थे। यह तो हुई गद्य की बात, पद्य के क्षेत्र

में भी इन्होंने बहुत कुछ कार्य किया है किन्तु वह गद्य की अपेक्षा कम है।

वर्ण्य-विषय—ऊपर यह लिखा जा चुका है कि ब्रजभाषा के पद्य-साहित्य में अभी तक भक्ति और शृंगार सम्बन्धी रचनाएँ चली आती थीं। भारतेन्दु जी ने इस प्रकार की रचनाओं की उपेक्षा नहीं की प्रत्युत इसी में अपनी कवित्व-शक्ति का उद्घाटन किया। समय के अनुरोध से इन्होंने देशभक्ति, राजभक्ति, अतीत गौरव और समाज-सम्बन्धी कविताएँ भी लिखी हैं।

समीक्षा—भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र जी अत्यन्त सरस और भावुक कवि थे। इनके शृंगार रस के कवित्त और सवैये इतने रसीले और मर्मस्पर्शी होते थे कि लोगों के हृदय पर बरबस अधिकार जमा लेते थे। इसका कारण यह था कि इन्होंने अपने कवित्तों और सवैयों में उन्हीं शब्दों का प्रयोग किया है जो बोलचाल की भाषा में व्यवहृत होते थे। इन्होंने प्राकृत और अपभ्रंशकाल से चले आते हुए बहुत से पुराने अव्यवहृत शब्दों को, एकदम हटा दिया। इन्होंने अपनी काव्य-भाषा को खूब परिमार्जित और जन-साधारण के ग्रहण करने योग्य बना दिया था। इन के कवित्तों और सवैयों का वाक्य-विन्यास अत्यन्त सरल, चुस्त और युक्तिपूर्ण होता था। उदाहरणार्थ इनके दो रसीले सवैयों को देखिए—

यह संग में लागियै डोलैं सदा, बिन देखें न धीरज आनती हैं।
छिनहूँ जो वियोग परै 'हरिचन्द' तौ, चाल प्रलै की सु ठानती हैं॥
बरुनी में फिरैं न झपैं, उझपैं, पल में न समाइबो जानती हैं।
पिय प्यारे तिहारे निहारे बिना, अँखियाँ दुखियाँ नहिं मानती हैं॥

जानत ही नहिं हौं जग में, किहि कों सबरे मिलि भाखत हैं सुख।
चौंकत चैन को नाम सुनैं, सपनेहुँ न जानत भोगन को रुख॥
ऐसेन सों 'हरिचन्द जू' दूरहिं, बैठनो का लखनों न भलो मुख।
मो दुखिया के न पास रहौ, उड़ि कै न लगै तुमहूँ को कहूँ दुख॥

इन्होंने महात्मा सूरदास आदि कवियों की भांति पदों की भी रचना की है ये पद राधा-कृष्ण की प्रेम-लीला, विहार और विनय सम्बन्धी हैं। भक्तवर नाभा जी के 'भक्तमाल' के ढंग का 'भक्तमाल' भी लिखा है इस में भक्तों के जीवन चरित का गायन छप्पयों में किया गया है। बिहारीलाल जी की सतसई के कतिपय दोहों पर इन्होंने कुण्डलिया भी लगाई है। इन की इस प्रकार की एक कुण्डलिया देखिए—

मोहन मूरति स्याम की, अति अद्भुत गति जोइ।
बसत सुचित अंतर तऊ प्रतिबिंबित जग होइ॥
प्रतिबिंबित जग होइ कृष्णमय ही सब सूझै।
इक संयोग वियोग भेद कछु प्रगट न बूझै॥
श्री हरिचन्द न रहत फेर बाकी न कछु जोहन।
होत नैन मन एक जगत दरसत जब मोहन॥

भारतेन्दु जी ने जिस प्रकार काव्य की प्राचीन भावनाओं का स्वागत किया है उसी प्रकार अपने समय में उठी हुई देश-प्रेम की भावनाओं का भी सहृदयता से वर्णन किया है। कविता को इस नयी धारा की ओर मोड़कर इन्होंने अपनी जागरूकता का परिचय दिया है। ऐसी कविताओं में देश-भक्ति सम्बन्धी कविताएँ अधिक हैं। अतीत का गौरव इन्हें सदा अपनी ओर खींचता था और इन के हृदय में वर्तमान के प्रति क्षोभ भरता था। अपने इस क्षोभ का उल्लेख इन्होंने इस प्रकार किया है—

हाय! वहै भारत - भुवि भारी। सब ही विधि सों भई दुखारी॥
हाय! पंचनद, हा पानीपत। अजहुँ रहे तुम धरनि विराजत॥
हाय चितौर! निलज तू भारी। अजहुँ खरो भारतहिं मँझारी॥
तुम में जल नहिं जमुना गंगा। बढ़हु वेगि किन प्रबल तरंगा?
बोरहु झट किन्तु मथुरा कासी? धोवहु यह कलंक की रासी॥

भारतेन्दु जी के मन में सदा यह भावना बनी रहती थी कि भारत का मस्तक ऊँचा रहे। इन के समय में जब भारतीय सेना ने मिस्र देश पर विजय की तो ये बहुत प्रसन्न और चकित हुए और तुरन्त ही लिख डाला—

फरकि उठीं सब की भुजा, खरकि उठीं तरवार;
क्यों आपुहिं ऊँचे भए, आर्य मोछ के बार॥

भारत की गिरती दशा का पश्चाताप इन्हें सदैव रहा। इसलिए कभी-कभी ये दुखित होकर लिखते थे—

कहाँ करुणानिधि केसव सोए?
जागत नाहिं अनेक जतन करि भारतवासी रोए।

भारतेन्दु जी ने राजभक्ति और समाज सुधार सम्बन्धी कवित्ताएँ भी की हैं इनके समय में काव्य-भाषा के परिवर्तन का प्रश्न भी उठ खड़ा था। इसलिए इन्होंने देश की गति को समझते हुए खड़ी बोली में भी कुछ कविताएँ की थीं। इनके सम्पूर्ण साहित्य को देखने से पता चलता है कि ये युग-कवि थे। प्राचीन और नवीन के संधि-स्थल पर जिस प्रकार के साहित्यकार की आवश्यकता होती है, भारतेन्दु जी ठीक उसी प्रकार के थे।

भारतेन्दु जी में सर्वतोमुखी प्रतिभा विद्यमान थी। इसी प्रतिभा के बल पर ये प्राचीनता और नवीनता दोनों का अपूर्व सामंजस्य कर सके। इन्होंने प्राकृतिक वर्णन में अपनी

रुचि नहीं दिखायी है। ये वस्तुतः नर-प्रकृति के कवि थे। नदियों, पहाड़ों, झीलों और वन-प्रदेश की प्राकृतिक छटा इन के मन को मुग्ध नहीं कर सकी थी।

भाषा और शैली—भारतेन्दु जी के काव्य की भाषा बोलचाल की चलती हुई ब्रजभाषा है। इन्होंने ब्रजभाषा को जनसाधारण के निकट लाने का श्लाघनीय प्रयत्न किया था। इन्होंने शब्दों को तोड़ने-मरोड़ने की प्रथा को एकदम तिलांजलि दी है और पुराने अव्यवहृत शब्दों को भी हटा दिया है इस प्रकार काव्य भाषा में सफ़ाई और चलतापन ला दिया है। इन्होंने सभी ढंग की कविताएँ की हैं। इनका भावों के व्यक्त करने का ढंग अपूर्व था। इन्होंने लोकोक्तियों और मुहाविरों का भी प्रयोग किया है। इनकी भाषा माधुर्य और प्रसाद गुण से ओतप्रोत है। कुछ स्थलों पर ओज के भी दर्शन हो जाते हैं।

७—हरिश्चन्द्र

—०:०::०::०:०—

१—शब्दार्थ—नेह—प्रेम ; अथोर—पर्याप्त, अधिक ; अपूरब—विचित्र।

सन्दर्भ—हरिश्चन्द्र जी आनन्दघन श्रीकृष्ण की विनय करते हैं—

भावार्थ—प्रेम के नवजल से नित्य परिपूर्ण रहने वाले और (सदा) प्रेम-रस की पर्याप्त वृष्टि करने वाले किसी अपूर्व मेघ (श्रीकृष्ण जी) की जय हो जिसे देखकर मेरा (हरिश्चन्द्र का) मन-मयूर नृत्य करने लगता है।

टिप्पणी—'कोऊ' शब्द से अभिप्राय आनन्दघन श्रीकृष्ण जी से है। इस शब्द को अर्द्ध-स्पष्ट रखने से भाव में सौन्दर्य-वृद्धि हो गयी है।

२—शब्दार्थ—लहि—पाकर ; आस—आशा ; बरन—अक्षर।

भावार्थ—हरिश्चन्द्र जी कहते हैं कि जिसको पा चुकने पर हृदय में किसी प्रकार की अभिलाषा शेष नहीं रह जाती, संसार को पवित्र करने वाले दो अक्षरों के इस "प्रेम" की जय हो।

३—शब्दार्थ—मिटै—नष्ट हो जाय ; अविचल—स्थिर।

भावार्थ—हरिश्चन्द्र जी कहते हैं कि चन्द्रमा मिट जाय, सूर्य मिट जाय और जगत की मर्यादा भी नष्ट हो जाय पर मेरा (हरिश्चन्द्र का) दृढ़ और स्थिर प्रेम नहीं मिट सकता।

टिप्पणी—हरिश्चन्द्र जी की जीवनी से विदित होता है कि उन्होंने अपनी इस टेक को आजन्म निबाहा है।

४—शब्दार्थ—मोरौ—मोड़ लो ; तोरौ—तोड़ दो ; छोरौ—छोड़ दो।

भावार्थ—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र जी कहते हैं कि सुनो! घर से विमुख हो जाओ, भव-जाल को तोड़ दो और हर प्रकार के साधन (की साधना) को छोड़कर एकमात्र श्रीकृष्ण भगवान का भजन करो।

५—शब्दार्थ—श्रीवल्लभ-वल्लभ — श्रीवल्लभाचार्य के उपास्यदेव श्रीकृष्ण।

भावार्थ—हरिश्चन्द्र जी कहते हैं कि भव-बन्धन से मुक्ति पाने के लिए) अनेक उपाय करना छोड़कर श्रीवल्लभाचार्य के उपास्यदेव श्रीकृष्ण का नाम-स्मरण करो। दीनबन्धु होने की अपनी टेक जानकर वे अवश्य ही (तुम्हें) अपना लेंगे।

टिप्पणी—इस दोहे से इन के वल्लभकुलावलम्बी होने का पता चलता है।

६—शब्दार्थ—महाप्रसाद—तुलसी दल ; श्रीवल्लभ—श्रीकृष्ण।

भावार्थ—हरिश्चन्द्र जी कहते हैं कि हे मनुष्यो! श्री जमुना जी का जल पान करो, श्री वृन्दावन धाम में निवास करो, मुख में तुलसी रक्खो और कृष्ण का नाम-स्मरण करो।

७—शब्दार्थ—उन्मत्त ह्वै—मतवाला होकर।

भावार्थ—हरिश्चन्द्र जी कहते हैं कि ऐ जीव ! तू पुलकित और रोमांचित होकर नेत्रों से आँसुओं की धारा बहा दे। तू प्रेम में मगन और मतवाला होकर राधिका जी का नाम स्मरण कर।

८—शब्दार्थ—दीननि—दीनों; दीनता—गरीबी।

भावार्थ—हरिश्चन्द्र जी कहते हैं कि हे मन ! तू अपने आप यह समझ ले कि सभी गरीबों की गरीबी और सभी पापियों का पाप सिमिट कर मुझ में आ गया है।

९—शब्दार्थ—ब्रजनाथ—ब्रजपति श्रीकृष्ण; भव—संसार-सागर।

भावार्थ—हरिश्चन्द्र जी कहते हैं कि हे ब्रजपति नन्दलाल जी ! आप मेरे प्राणों के स्वामी हैं तथा दुखियों के दुख को हरने वाले हैं। हे प्रभो आप दौड़कर मुझ डूबते हुए को बाँह पकड़कर उबार लें।

१०—शब्दार्थ—विहाइ—बीता जा रहा है।

भावार्थ—हरिश्चन्द्र जी कहते हैं कि सन्तों का सत्संग पाकर मैं प्रभु के यश का गायन करता हूँ और प्रभु के प्रेम में मस्त होकर नृत्य करता हूँ। मेरा जन्म इसी प्रकार बीता जा रहा है।

११—शब्दार्थ—प्रनतारति-भंजन—दुखियों के दुख को नष्ट करने वाले; चन्द्रबदनी-मनरंजन—चन्द्रमुखी गोपियों के चित्त को प्रसन्न करने वाले।

भावार्थ—हरिश्चन्द्र जी कहते हैं कि वृषभानु के मान्य जनों में श्रेष्ठ तथा नंद जी को आनन्दित करने वाले श्रीकृष्ण जी ! तुम्हारी जय हो। अत्यन्त दानी तथा यश को भी यश प्रदान करने वाली यशोदा माता के पुत्र श्रीकृष्ण जी ! तुम्हारी जय हो। दुखियों की आपत्तियों को दूर करने वाले तथा राधिका जी के प्राण-प्यारे श्रीकृष्ण जी ! तुम्हारी जय हो। चन्द्रमुखी गोपियों के चित्त को प्रसन्न करने वाले तथा वृन्दावन में चन्द्रमा के समान प्रकाश करने वाले श्रीकृष्ण जी ! तुम्हारी जय हो। इन्द्रियों के स्वामी, गायों के पालक, गोपों और गोपियों के स्वामी तथा गोकुल की रक्षा करने वाले हे श्रीकृष्ण जी तुम्हारी जय हो। सब के कष्ट को हरने वाले, अत्यन्त करुणाशील तथा गोवर्द्धन पर्वत को धारण करने वाले श्रीकृष्ण जी ! तुम्हारी जय हो।

प्रेम फुलवारी

१२—**शब्दार्थ**—दिसि—तरफ ; निबाह—निर्वाह ; सुरत—स्मरण ; विधि—तरह।

भावार्थ—हरिश्चन्द्र जी भगवान श्रीकृष्ण से आत्मनिवेदन करते हैं कि हे प्रभो ! बहुत हो चुका, अब तो बस कीजिए। हे करुणानिधि ! अपने सुयश की ओर देखकर मेरे साथ यह नयी चलन न चलाइए। (भाव यह है कि आप का यश पापियों को मुक्त करने से हुआ है। इस यश की रक्षा का ध्यान रखकर मेरा भी उद्धार कीजिए।) यदि आप मेरे दोषों की छानबीन करेंगे तो मेरा उद्धार नहीं होगा। आप गजेन्द्र, अजामिल आदि पापियों का स्मरण करते हुए मेरे पाप कर्मों को भूल जायँ। हे प्रभो ! अब मुझ से (यह विपत्ति) किसी प्रकार नहीं सही जाती और मैं (इतना विवश हूँ कि) तनिक भी धैर्य नहीं रख

सकता। ऐसी स्थिति में आप तुरंत दौड़कर मुझ (हरिश्चन्द्र) को गले से लगा लें और मेरा उद्धार कर दें।

१३—शब्दार्थ—नावँ—नाम ; बनाव—साज, शृङ्गार ; जन—भक्त।

भावार्थ—हरिश्चन्द्र जी कहते हैं कि हे प्यारे! क्या इसी का नाम न्याय है? आप खूब रहे कि जो आपको भजता है उसको भव-जाल से भागने (मुक्त होने) नहीं देते। अपना भक्त समझकर आप उस (भक्त) की भलाई के कुछ काम किये बिना ही दुःख देने लगते हैं। (गुण पर ध्यान देने की अपेक्षा) आपने जो अवगुणों को देखकर अब निर्णय करना आरम्भ किया है, यह नयी रीति अच्छी रही! अंतर्यामी होकर आपने खूब फैसला किया! आप चोरों को तो नहीं दंड देते प्रत्युत जिसका माल चोरी गया है उसे ही उलटा डाँटते हैं। (भाव यह है कि आप जीवात्मा पर ही अपना असर्ष व्यक्त करते हैं और काम, क्रोधादि चोरों को तनिक भी नहीं बरजते।)

टिप्पणी—देखिए, हरिश्चन्द्र जी ने कितनी चतुरता से भगवान् श्रीकृष्ण को उलाहना दिया है।

१४—शब्दार्थ—सही न जाति—झेली नहीं जाती ; पंछी—पक्षी ; कोउ विधि—किसी प्रकार।

भावार्थ—हरिश्चन्द्र जी कहते हैं कि हे प्यारे! अब मुझ से यह दुर्दशा झेली नहीं जाती है। मैं क्या करूँ, कोई सेवा-कार्य मुझ से पूरा नहीं होता। रात-दिन मेरा मन पश्चात्ताप करता रहता है। जिस प्रकार छोटे से पिंजड़े में बन्द होकर पक्षी तड़पता है उसी प्रकार इस शरीर रूपी पिंजड़े में पड़े हुए मेरे प्राण निकलने के लिए व्याकुल हो रहे हैं। मेरा इन पर अब कोई

वश नहीं चल रहा है, ये अत्यन्त व्याकुल हैं और ऐंठ-ऐंठकर पछाड़ खाकर गिरते हैं। हे प्रभो! अब सब संकल्प-विकल्प छोड़कर मेरे प्राणों को अपने समीप बुला लीजिए।

टिप्पणी—प्रेम मूर्ति भारतेन्दु जी के प्राणों की छटपटाहट पर भला कौन न करुणा के आँसू बहायेगा। इस पद में उन्होंने अपने हृदय की सम्पूर्ण वेदना प्रभु के सामने प्रकट कर दी है।

१५—**शब्दार्थ**—पतित-उधारी—पापियों का उद्धार करने वाले; रीझि—प्रसन्न होने की बानि।

भावार्थ—हरिश्चन्द्र जी कहते हैं कि प्रभु (श्रीकृष्ण) की तुरन्त प्रसन्न होने की बानि देखकर मुझे भी इस बात पर विश्वास होता है कि श्रीकृष्ण जी 'पापियों के उद्धारक' हैं। यदि उनका ऐसा स्वभाव न होता तो अहीरों के वंश में जन्म लेना क्यों पसन्द करते, कौस्तुभ मणि को छोड़कर घुँघचियों की माला गले में क्यों धारण करते, रत्न-जटित मुकुट को छोड़कर मोर-पंख (का मुकुट) क्यों धारण करते तथा मेवों का स्वाद भुलाकर करील फल को क्यों अपने फाँड़ में बाँधते? प्रभु की ऐसी उलटी रीझि देखकर मेरे हृदय में यह आशा होती है कि संसार की निन्दा का पात्र बने हुए मुझ जैसे व्यक्ति को वे दास बनाकर अपना लेंगे।

१६—**शब्दार्थ**—सान दै राखो—सान द्वारा तेज कर लो; तारी—उद्धार कर दिया।

सन्दर्भ—हरिश्चन्द्र जी भगवान् श्रीकृष्ण जी से कहते हैं कि मेरा उद्धार करना कुछ हँसी-खेल नहीं है, इसलिए आप सावधान हो जाइए।

भावार्थ—हे श्रीकृष्ण जी ! सजग होइए। अपने मोर-पंखों के मुकुट और उसकी कलंगी को सिर की पगड़ी से खूब कस लीजिए, अपनी अलकावली को भी सँभाल लीजिए। वक्षस्थल पर हिलती हुई अपनी वनमाला को उतार दीजिए और मुरली को भूमि में रख दीजिए। अपने सुदर्शनचक्र आदि आयुधों को सान देकर खूब पैना कर लीजिए। कर के कंकन चक्र चलाते समय कहीं फँस न जायँ इसलिए इन्हें भी उतार दीजिए नूपुर को चढ़ाकर ठीक कर लीजिए, कमर की किंकिणी को और कसकर बाँध लीजिए तथा पीताम्बर के परिकर से कमर को खूब कस लीजिए। हे बनवारी ! ऐसी ही तैयारी कीजिए क्योंकि इस बार मेरी बारी है। आप अपने इस बाने को ठीक से सँभाल लीजिए क्योंकि मैं उन पापियों में से नहीं हूँ जिन्हें आपने आसानी से बंधन मुक्त कर दिया है।

टिप्पणी—इस पद में माधुर्य, ओज और प्रसाद तीनों गुण विद्यमान हैं। सूरदास के ' आजु हौं एक-एक करि टरिहौं।" के समान यह भी अत्यन्त भावपूर्ण है।

१७—**शब्दार्थ**—जुगति—उपाय ; हेर चुकी—देख चुकी ; बिहरौंगी—भ्रमण करूँगी।

सन्दर्भ—कोई विरहिणी गोपी कह रही है।

भावार्थ—हे प्राणनाथ ! तुम से मिलने के लिए मैं ने क्या-क्या उपाय नहीं किया पर मेरा इस हेतु किया गया सारा परिश्रम व्यर्थ रहा। विधाता ने मेरे सारे मनोरथों को चौपट कर दिया। मैं सभी दूतियों का मुख देख चुकी हूँ और सभी के हृदय की थाह ले चुकी हूँ। सब ओर से निराश होने पर मैं ने अब खूब सोच-विचार कर एक अचूक और नवीन युक्ति निकाली

है। वह युक्ति यह है कि माया के सत्व, रज और तम इन तीनों गुणों को क्षीणप्राय करके और शरीर का परित्याग करके मन को तुम्हारे चरणों में लगा दिया जाय। ऐसा करके मैं तुम्हें प्राप्त कर लूँगी और तुम्हारे अधरामृत से छककर निश्शंक घूमूँगा।

टिप्पणी—इस में प्रेम की पूर्ण पराकाष्ठा दिखायी गयी है।

१८—शब्दार्थ—लगन—प्रेम ; सायक—बाण।

भावार्थ—हे कृष्ण प्यारे! तुम्हारी सुधि बार-बार क्यों आती है? जब तुम्हारी याद आती है तो संसार के सारे कार्य छूट जाते हैं और सभी प्रकार के स्वाद फीके जान पड़ते हैं। हे प्यारे! जब तक तुम्हारी याद नहीं आती है तब तक हम चैतन्य रहते हैं किन्तु तुम्हारी याद आते ही प्रेम के बाण (हृदय में) चुभने लगते हैं। हमें यह निश्चयपूर्वक ज्ञात है कि तुम संसार की समस्त कामनाओं के शत्रु हो। पर बताओ ऐसा होने पर भी लोग क्यों तुम्हारे प्रेम-प्रसंग में लोक-व्यवहार की चर्चा किया करते हैं? (भाव यह है कि परमार्थ और लोक-व्यवहार दोनों एक साथ नहीं निभ सकते इसलिए लोगों को चाहिए कि या तो वे प्रेमी ही बनें या लोक-व्यवहार में निपुणता ही प्राप्त करें।)

१९—शब्दार्थ— प्रबोधौ—समझाओ ; कदली-वन—केले का वन।

भावार्थ—गोपियाँ उद्धव जी से कहती हैं कि हे उद्धव जी! एक म्यान में दो तलवार कैसे समा सकती हैं? हमारे जिन नेत्रों में श्रीकृष्ण की रसीली मूर्ति बसी हुई है, उन में दूसरी वस्तु कैसे रह सकती है?

जिन (गोपियाँ) के शरीर और मन में मन-मोहन रम रहे हैं उन्हें (नीरस) ज्ञान क्यों सुहाने लगे ? हे उद्धव जी ! आप चाहे जितनी ज्ञान की बातें कहकर हमें समझायें पर यहाँ पर कोई भी (गोपी) आपकी बात पर विश्वास नहीं कर सकती। भला ऐसा मूर्ख कौन होगा जो अमृत पान करने के पश्चात् इन्द्रायण के कड़वे फल का चखने की लालसा करे। उद्धव जी ! यह ब्रज कदली बन के समान है, आप अपने ज्ञान रूपी खड्ग से इस प्रेम रूपी केले के वन को चाहे जितनी बार काटिए, यह बराबर फूलता और फलता रहेगा।

टिप्पणी—इस पद में गोपियों ने अपने प्रेम-मार्ग की बड़ी युक्ति से पुष्टि की है।

२०—शब्दार्थ—प्रतच्छ—प्रत्यक्ष ; विहरौ—भ्रमण करौ ;

सन्दर्भ—कोई विरहिणी गोपी श्रीकृष्ण की याद कर कहती है—

भावार्थ—प्यारे नन्दलाल ! तुम एक बार फिर दर्शन दे जाना क्योंकि मुझे इन प्राणों का कुछ भी भरोसा नहीं है, ये तो अब चलने की तैयारी कर रहे हैं। प्यारे ! यदि तुम इधर हमारे सामने आने में कुछ संकोच करते या शरमाते हो तो अपना मुख दूर से ही दिखलाओ। यही तुम से मेरी प्रार्थना है। इस को तुम अपने चित्त में स्वयं विचार करके देखो, ऐसा न हो कि मैं अपने मन की बात मन ही में लिए चली जाऊँ इसलिए ब्रज में तुम निमंत्रण के बहाने ही सही, शीघ्र आओ।

टिप्पणी—प्रस्तुत पद में विरहिणी गोपी ने श्रीकृष्ण-दर्शन की उत्कंठा व्यक्त की है। उसकी व्याकुलता और छटपटा-हट चित्त में करुणा उत्पन्न करती है।

२१—**शब्दार्थ**—बिगरैल—बिगड़ने वाली ; चबाव—निन्दा।

भावार्थ—कोई गोपी अपनी सखी से कहती है कि हे सखी! मेरी ये आँखें अब बिगरैल हो गयी हैं। ये जब बिगड़ पड़ती हैं तो बिना साँवरे किशोर श्रीकृष्ण जी को देखे चैन नहीं लेतीं। श्रीकृष्ण का रूप-रस पान करके ये मतवाली बन गयी हैं और अपना पैर डगमगाते हुए रख रही हैं। इन्हें कुल की मर्यादा का कुछ भी ध्यान नहीं है। लोक-लज्जा और गुरुजनों के सम्मान का कुछ भी ध्यान न कर ये भगवान् श्रीकृष्ण की रखेली हो गयी हैं। अपनी निन्दा सुनकर ये और भी प्रसन्न होती हैं इनके मन में किसी प्रकार की मलीनता नहीं आती। ये सब का साथ छोड़कर अब केवल श्रीकृष्ण के रूप के साथ सैर कर रही हैं। (भाव यह है कि श्रीकृष्ण के सौन्दर्य में पग गयी हैं।)

टिप्पणी गोपियों की बिगड़ी हुई आँखों के सुन्दर करतब इस पद में दिखाये गये हैं।

२२—**शब्दार्थ**—चीन्हौ—पहिचानो ; करहु बखान—वर्णन करो।

भावार्थ—हरिश्चन्द्र जी कहते हैं कि हे प्यारे! हमारी तुम्हारी जो जान पहिचान थी वह पुरानी पड़ गयी। सयान हो जाने के कारण अब तुम हमें क्योंकर पहचानो? हे सुजान! हम यह भली भाति जानते हैं कि तुम अभी प्रौढ़ावस्था को प्राप्त हुए हैं, तुम्हारा प्रेम नया है और तुम से प्रेम करने वाले भी तुम्हारे ही सदृश नववयस्क हैं किन्तु हे प्यारे! तुम्हीं बता दो कि बहुत दिनों से प्रेम करते चले आने वाले हम अब किस का सहारा ढूँढ़ें?

टिप्पणी—पुरानी जान-पहचान भी कभी-कभी बहुत काम दे जाती है। इस पद में इसी पुरानी जान-पहचान के बल पर ही प्रार्थी अपना सारा काम निःशुल्क कराने की चिन्ता में है।

२३—शब्दार्थ—बरजै—मना करे ; जिमि —जिस प्रकार।

भावार्थ—हे सखी ! हमारे ये नेत्र बड़े ही उलझने वाले हैं, यह जब उलझ जाते हैं तो फिर सुलझना जानते ही नहीं ; उस अवस्था में ये कुछ नहीं सोचते समझते। हमें कोई ऐसा नहीं दिखायी देता जो इन नेत्र रूपी मदमस्त हाथियों को वश में कर ले। हे सखी ! इन वैरी नेत्रों के पीछे मुझे लेने के देने पड़ रहे हैं अर्थात् मैं घोर आपत्ति में फँस गयी हूँ।

टिप्पणी—इस पद में "उरझौंहैं नैन" का यथार्थ चित्र प्रस्तुत किया गया है।

२४—शब्दार्थ—पीर—पीड़ा ; खोय—नष्ट करके।

भावार्थ—कोई विरहिणी गोपी व्यथित होकर कह रही है कि हृदय की पीड़ा को कोई नहीं जानता। मैं अपने हृदय की बात किससे कहूँ फिर (मेरी बातों को सुनकर) कौन विश्वास करेगा ? मैं तो अब घर में बैठी हुई रो रही हूँ। मेरे हृदय में प्रेम की जो आग जल रही है, उसे पहचानने वाला यहाँ कोई नहीं है। सभी लोग अंतर की बातों से अनभिज्ञ हैं। सभी अपनी ही बात चलाते हैं, मेरी तनिक सुनते भी नहीं, मैं इन लोगों को क्या कह कर समझाऊँ ? मैं तो लोक-लज्जा और कुल की मर्यादा सब को खोकर बैठी हुई हूँ। जो भवितव्यता घटित होने वाली है वह हुआ करे किन्तु मेरी तो इसी प्रकार बीतेगी।

टिप्पणी—कितनी मर्मस्पर्शिनी उक्ति है ! अंतर की पीर

अंतर ही जानता है। कृष्ण-प्रेम में दिवानी गोपी की बात न तो कोई सुनता है और न कोई उस पर विश्वास ही करता है। ऐसी स्थिति में उक्त गोपी को जैसी झुँझलाहट होती है, वह द्रष्टव्य है। देखिए, इस झुँझलाहट के अन्दर प्रेम की कैसी तरलधार वह रही है!

२५—शब्दार्थ—निरलज—निर्लज्ज; बेशरम; फाट—दरक।

सन्दर्भ—श्रीकृष्ण के ब्रज चले जाने पर सारा ब्रज सूना दिखायी पड़ता है, इस पर कोई विरहिणी-ब्रजांगना अपने नेत्र-द्वय की ओर सम्बोधन करते हुए कहती है—

भावार्थ—हाय! ब्रज की ऐसी दुखद स्थिति को देखने के लिए मेरे नेत्र-द्वय अभी तक जीवित हैं। मेरे प्राण श्रीकृष्ण से बिछुड़ने पर भी नहीं निकले; ये निर्लज्ज आँखें भी इसी (प्राण की) तरह जी रही हैं। मैं अपनी आँखों से ब्रज के इन निकुंजों को पहले की तरह हरा देख रही हूँ। तोते और कोयल आदि भी वही दिखायी पड़ते हैं किन्तु बिना श्रीकृष्ण के मेरी सेज सूनी दिखायी पड़ती है। पहले मैं संध्या समय नित्य गोचारण से लौटते हुए श्रीकृष्ण का दर्शन अटारी पर चढ़कर किया करती थी। मेरे सामने आज भी वही झरोखा है वही अटारी है, वही गली है और वही सायंकाल की बेला है किन्तु वंशी बजाता हुआ कन्हैया कहीं से आता नहीं दिखायी पड़ रहा है। अब भी वही ब्रज है, वही गायें हैं और वही गोप हैं किन्तु श्रीकृष्ण बिना सब व्याकुल होकर और अनाथ बनकर तितर-बितर हो रहे हैं। हाय! नन्द के भवन को सूना देखकर हम सब का हृदय दरक क्यों नहीं गया। हे ब्रजवासियो! जल्दी से उठकर दौड़ पड़ो और श्रीकृष्ण को ब्रज-मार्ग की ओर लौटा लो।

टिप्पणी—इसमें स्मरण अलंकार है। वियोगिनी गोपी का विलाप करुणोत्पादक है। समस्त पद माधुर्य और प्रसाद गुण से परिपूर्ण है।

२६–शब्दार्थ—बिगरी—कुमार्गगामिनी।

सन्दर्भ—कोई वियोगिनी गोपी श्रीकृष्ण के प्रति कहती है—

भावार्थ—हे प्रियतम ! हमारे ये प्राण संसार के समस्त प्राणियों को नीचा दिखाकर, सभी स्थानों पर भटकना छोड़कर तथा तुम्हारे साथ एक होकर विहार करेंगे। सभी मिलकर चाहे हमारी निन्दा करें, हमें बिगड़ी हुई बताएँ तथा हमारा नाम बदनाम करें किन्तु हम इस सुअवसर को कभी भी हाथ से नहीं जाने देंगी। (भाव यह है कि बदनामी आदि से डरकर मैं आपका संग न छोड़ूँगी।)

टिप्पणी—इस पद में गोपी की तन्मयता दर्शनीय है।

२७–शब्दार्थ—रीझै—प्रसन्न हों ; कलाम—बात।

भावार्थ—हरिश्चन्द्र जी कहते हैं कि पता नहीं, प्रभु जप-तप, ज्ञान-ध्यान आदि किस कर्म के करने पर रीझकर प्रसन्न हों। वेदों और पुराणों में भी उनके वास्तविक मर्म का प्रतिपादन नहीं हो सका है। इनमें कुछ का कुछ लिखा हुआ है। यदि हम वेदों और शास्त्रों में लिखित इस बात पर विश्वास कर लें कि जप-तप और दान-पुण्य आदि करने से मुक्ति प्राप्त होती है तो फिर बताओ गणिका ने कौन-सा जप-तप किया था जिसके कारण उसकी मुक्ति हो गयी अथवा गिद्ध जटायु ने कौन सा दान-पुण्य किया था (जिसके कारण भगवान् राम ने उसकी क्रिया अपने हाथों को ?) इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि जपी-तपी तथा ज्ञानी

भगवान के दरबार से दूर ही रहते हैं इन्हें वहाँ पर स्थान नहीं मिलता। ये धृष्ट ज्ञानी लोग जो कि लोक और वेद दोनों द्वारा निन्दित हैं, व्यर्थ ही समाज में जा जाकर विवाद किया करते हैं। भगवान् की गति कहीं सीधी है, कहीं उलटी है और कहीं पर तो इन दोनों से भी विचित्र है। इन्होंने अब मनमानी घर जानी करना आरम्भ कर दिया है इसलिए इनके मन की बातें कौन जान सकता है।

टिप्पणी—भावोत्कृष्टता की दृष्टि से यह पद उत्तम है। 'मन की रीति निकारी' कहकर कवि ने वेद और पुराणादि के दोषों—वेद पुरान भेद नहिं पायो—का मार्जन कर दिया है।

२८—शब्दार्थ—लाल—प्यारे, लाल रंग; मिसकै—बहाना करके; विदित—प्रकट।

भावार्थ—हरिश्चंद्र जी कहते हैं कि ऐ प्यारी राधिके! तू लाल के रंग में (प्यारे कृष्ण के अनुराग में) रंगी हुई प्रतीत होती है तभी तो तुमने इसी बहाने से लाल रंग की सारी पहननी आरम्भ कर दी है। तेरे हाथ-पैर और अधर लाल हैं, शिर पर लाल तिलक सुशोभित हो रहा है यही नहीं तेरे नेत्रों के कोरों में लाल-लाल रेखाओं के रूप में लालबिहारी झलक रहे हैं। तू तो गिरिधारी के रंग में नखशिख रंग गयी है अथवा नखशिख गिरिधारी हो गयी है। इसी कारण तुझे अपने शरीर की थोड़ी-सी भी सुधि नहीं है। तेरा यह प्रेम अब तो संसार में प्रकट हो गया है। (व्यर्थ में तू क्यों छिपाती है?)

टिप्पणी—देखिए, लाड़लो राधिका में लाल की लाली दिखाने में कवि ने कैसा कमाल कर दिखाया है।

२९—शब्दार्थ—टरौ—हटौ; निवसौ—निवास करो, राजो—सुशोभित होओ।

भावार्थ—हरिश्चन्द्र जी कहते हैं कि सौभाग्यवती राधिका जी ! आप अब क्षण भर के लिये भी मेरी आँखों से ओझल न हों प्रत्युत् पुतली होकर मेरी आँखों में ऐसा रूप धारण कर निवास करें कि आपके शरीर में नीले रंग की साड़ी हो, कानों में कर्णफूल हो, शिर में सिन्दूर हो, मुख में पान हो, नेत्रों में कज्जल लगा हुआ हो, मुख में मन को मोहित करने वाली मधुर मुस्कान हो तथा चेहरे से भोलापन प्रकट होता हो। इस प्रक[illegible] आप सदैव वृन्दावन में सुशोभित होवें तथा ब्रजभूमि में सुख-पूर्वक निवास करें और आप घनश्याम का वेश धारण कर प्रेमियों के ऊपर प्रेमामृत की वृष्टि करें। हमारे प्राण जब तक इस शरीर में रहें तब तक आप की इस सुन्दर मूर्ति के अतिरिक्त उन्हें और कुछ भी देखने को न मिले। हमारी अंतिम श्वास के रहते हुए आप प्रेम की इस रीति का निर्वाह करें।

३०—शब्दार्थ—सुहाग—सौभाग्य ; तुव—तुम्हारे।

भावार्थ—हरिश्चन्द्र जी कहते हैं कि हे राधिके ! तुम्हारे सौभाग्य की छाया से ही समस्त संसार सौभाग्यशाली हुआ और तेरी अनुराग-छटा को देखकर ही भगवान् सृष्टि-रचना में तल्लीन हो गये। तुम्हारी लीला के कारण ही जीव का सत्-चित स्वरूप पृथक हुआ। तुम से विलग होने के पश्चात् फिर तुम्हारे चरण-कमलों के सान्निध्य से जीव परमानन्द को प्राप्त करता है।

टिप्पणी—उपर्युक्त पद राधिका जी के विषय में लिखा गया है। कवि ने इस में राधिका जी की आनन्द-विधायिनी कला को सृष्टि-रचना का कारण माना है।

३१—शब्दार्थ—याको—इसको ; जाननिहारी—जानने वाली।

भावार्थ—हरिश्चन्द्र जी कहते हैं कि प्रेम की रीति बहुत विचित्र है। यह लोक और वेद दोनों से अलग है और केवल प्रेमियों को ही प्यारी है। इसके रहस्य को विरले ही जान सकते हैं, दूसरा कौन जान और समझ सकता है। श्रीकृष्ण जी जिस प्रेम से सम्बन्धित हैं, उसे अनुभव से ही देखा जा सकता है।

३२–शब्दार्थ—वेनी—चोटी ; जुगुल-कृपा—राधाकृष्ण की कृपा।

भावार्थ—हरिश्चन्द्र जी कहते हैं कि ऐ मन ! तू नित्य-प्रति राधाकृष्ण की इस शोभा का ध्यान किया कर जो गौर और श्यामल रूप है तथा इतनी सुन्दर है कि उसका वर्णन ही नहीं हो सकता। इस युगल मूर्ति में एक के शिर पर मोर मुकुट है तो दूसरी के शिर पर चन्द्रमा के आकार की सुन्दर कलँगी है ; एक के कान में कुंडल है तो दूसरी के कान में कर्णफूल है ; एक का कटि-प्रदेश काछनी से कसा है तो दूसरी का सुन्दर सारी से, एक के पैर में नूपुर हैं तो दूसरी के पैरों में अनवट, बिछिया और पान हैं, एक के हाथ में कंकन हैं तो दूसरी के हाथ में चूड़ियाँ हैं ; दोनों की भुजाओं में बाजूवन्द शोभा दे रहे हैं। एक मूर्ति के मस्तक में केशर का तिलक है और दूसरी के शिर में सुन्दर सिन्दूर है जो मन को मोहित कर लेता है। एक के मुख पर अलकें छिटकी हुई हैं और दूसरी के पीठ पर सुन्दर चोटी नागिनि के सदृश्य लहरा रही है। इस युगल मूर्ति के चटकीले पीत और नील वर्ण के वस्त्र अत्यन्त मनोहरता के साथ फहराते हैं। एक मूर्ति के अधरों से वंशी की मधुर ध्वनि प्रस्फुटित होती है और दूसरी के अधरों से मृदु-मुस्कान दिखायी पड़ती है। युगल-मूर्ति के नेत्रों में प्रेम भरी चितवन है, यह दया की खानि

ही हैं। युगल-सरकार का ऐसा अद्भुत वेष देखकर सभी चकित होते हैं। युगल सरकार की इस रूप-माधुरी का दर्शन बिना उनकी कृपा के किसी को नहीं हो सकता।

टिप्पणी—हरिश्चन्द्र जी ने युगल-सरकार की पूर्ण झाँकी इस पद में दिखलाई है। किसी अंग-विशेष की शोभा इसमें छूटने नहीं पायी है। वर्णन अत्यन्त मनोहर है।

प्रेम-प्रलाप

३३—शब्दार्थ—नखरा—मटकना; टीकौ—तिलक।

भावार्थ—हरिश्चन्द्र जी कहते हैं कि हे कृष्ण! समय-समय पर नखरा करना अच्छा होता है। इधर तो हमारे प्राण तुम्हारे दर्शन बिना छूटे जा रहे हैं और उधर तुम हमारे हृदय के दुख को देखते तक नहीं मानों विधाता ने इतराने वालों में तुम्हें सर्वश्रेष्ठ बना दिया हो। हे नाथ! अब हमारे मान को फीका न करो और हृदय में दया-भाव उत्पन्न कर हमारी रक्षार्थ शीघ्र ही दौड़ पड़ो।

टिप्पणी—भारतेन्दु जी का यह व्यंग्य बड़े मार्के का है।

३४—शब्दार्थ—निहारौ—देखो; गुन गननि—गुण का समूह; अबलौं—अब तक; बिसराई—भुलाकर; भाखेहूँ—कहनेपर भी।

भावार्थ—हरिश्चन्द्र जी कहते हैं कि हे नाथ! तुम अपने को देखो और अपने गुणों पर विचार करो, तुम हमारी ओर न देखो। यदि तुम अब तक अपने गुणों को भुलाकर भक्तों के अवगुणों को ही देखते होते तो फिर बताइए, अजामिल जैसे पापियों का उद्धार किस प्रकार होता? प्यारे! अब तक तो तुमने भक्तों के अवगुणों को कभी नहीं देखा फिर अब क्यों हमारे

कहने पर भी तुम यह नयी रीति चलाने जा रहे हो। हे कान्ह! तुम्हारे क्षमा और दया आदि गुणों से मेरे पाप अधिक बड़े नहीं हैं इसलिए आप अविलम्ब मेरा उद्धार कर दें।

टिप्पणी—प्रस्तुत पद में प्रभु के क्षमा और दया आदि गुणों को सर्वश्रेष्ठ बतलाकर कवि ने अपने उद्धार की प्रार्थना की है।

३५—**शब्दार्थ**—हेम—सुवर्ण; नाहक—व्यर्थ; लेहु अपनाई—स्वीकार कर लीजिए।

भावार्थ—भारतेन्दु जी कहते हैं कि लोभादिकों ने व्यर्थ में ही मुझे भ्रम में डाल दिया। इन्होंने कभी संसार के तथा कभी स्वर्ग के भोगों की ओर लालायित किया। लोहा और सोना अथवा पाप और पुण्य के दोनों पलड़े भले ही बराबर हों पर मुझे तो यही प्रतीत होता है कि परमार्थ और स्वार्थ दोनों एक ही हैं, क्योंकि इनका मूल लोभ है। इनमें केवल नाम का ही अन्तर है। हे कृपानिधि! इनमें ही भूलकर मैंने तुम्हारे चरण-कमलों को भुला दिया फिर तो तुम्हारे बिना इस संसार में भटकता ही रहा और व्यर्थ ही अपना जीवन खो दिया। मैं हाय-हाय करता हुआ मोह के फन्दे में पड़ा रहा। मैं ने कभी भी धैर्य नहीं धारण किया। जोरों से जलती हुई संसार की इस अग्नि में मैंने अपने अच्छे दिनों को जला दिया। हे करुणानिधि केशव! आप इस जगज्जाल से कृपा कर छुड़ावें और मुझ दीन-हीन दास को तुरन्त अपना लें।

टिप्पणी—परमार्थ में दूसरे लोक के भोगों को भोगने की लालसा रहती है और स्वार्थ में इस लोक के भोगों को भोगने की इच्छा रहती है। दोनों ही लोभ पर आधारित हैं इसलिए कवि ने परमार्थ-स्वार्थ में केवल नाम का ही भेद बतलाया है।

३६—शब्दार्थ—अविचल—स्थिर ; दहते—जलाते ।

भावार्थ—हरिश्चन्द्र जी कहते हैं कि अच्छा होता यदि हम भी कभी सुखपूर्वक अपना जीवन बिताते, संसार के इस जंजाल को छोड़कर रात-दिन श्रीकृष्ण के नाम का स्मरण करते, भगवल्लीला के गायन में सदा मग्न रहते और उसका हृदय में अनुभव कर नेत्रों से प्रेमाश्रु बहाते । उस समय एक घनश्याम के ही विरह में हमारा सांसारिक दुख तृण के समान जल जाता और मुझे पूर्ण शान्ति मिल जाती ।

टिप्पणी—इसमें भारतेन्दु जी ने अपने मनोराज्य की सुन्दर कल्पना किया है ।

३७—शब्दार्थ—करुनाकर—करुणा करने वाले भगवान् श्रीकृष्ण ; अवरेखो—देखो ।

भावार्थ—हरिश्चन्द्र जी कहते हैं कि हे करुणाकर प्रभो ! आप दया करके शीघ्र ही हमारी सुधि लें । आप मुझपर अविलम्ब दया करें क्योंकि संसार की दावाग्नि की ज्वाला मैं नहीं सह सकता । हे नाथ ! हमारे अवगुणों को आप स्वप्न में भी न देखें प्रत्युत हे प्यारे ! आप अपने गुणों की ओर देखें । हे प्राण नाथ ! हम तो सब तरह से हीन, कुटिल, क्रूर और कामी हैं और धनवानों के चरणों की सदैव गुलामी करते रहते हैं । हम दुष्ट हैं तथा महान पापी हैं और धर्म तो एकदम जानते ही नहीं हैं । आपको प्रसन्न करने के लिए हम किसी प्रकार का प्रयत्न नहीं करते किन्तु हम अपने को आपके शरण में जाने योग्य समझते हैं । हे प्यारे ! हम सब प्रकार से आपके हैं और आप ही तक हमारी पहुँच भी है । हम तो अब सारे प्रयत्न कर हार चुके हैं, कृपया किसी प्रकार आप हमारी रक्षा करें । आप द्रौपदी, अजामिल तथा गजेन्द्र का स्मरण करके मुझ दीन की रक्षा करें ।

३८—शब्दार्थ—निरस—रसहीन ; घिन—घृणा ; लोन—नमक ; फाँसें—फंदा ।

भावार्थ—हरिश्चन्द्र जी कहते है कि हे कृष्ण प्यारे ! तुम्हारे बिना संसार में कहीं भी सुख नहीं है। अनेक प्रकार के भोग भोगने की लालसा कर मैं स्थान-स्थान पर भटकता रहा। हे प्यारे ! जहाँ पर मेरा मन पहले बहुत लालायित होकर जा लगता है ; कुछ दिन बीतने पर वहाँ से (विरक्त होने पर) इस प्रकार हट जाता है कि फिर उलट कर अपने स्थान पर पहुँच जाता है। मैं जिधर देखता हूँ उधर ही स्वार्थ की पुरानी नीरस बातें दिखायी देती हैं। संसार के इस अत्यन्त मलिन व्यवहार को देखकर मुझे घृणा होती है। हे प्यारे ! मैं पहले जिसे हीरा समझता हूँ बाद में उसकी वास्तविकता कच्चे काँच के रूप में दिखाई देती है। संसार के इस व्यवहार में पीछे पछताना ही हाथ लगता है इस बात को मैं पुकार कर कहता हूँ। मैंने सुन्दर चतुर, रसिक और स्नेही जानकर जिन व्यक्तियों से प्रेम किया, था बाद में वे सभी पूर्ण रूप से स्वार्थी और कपटी दिखाई पड़े। सर्वगुण सम्पन्न व्यक्ति, तुम्हारे बिना फीकी रसोई के सदृश्य है इसीलिए मेरा मन (सब ओर से निराश होकर) जहाज के पक्षी की तरह तुम्हारे चरणों की शरण ग्रहण करता है। हे प्रभो ! अपने और पराये सभी लोग यद्यपि मुझसे बहुत प्रेम करते हैं किन्तु आश्चर्य है कि उनके द्वारा हमें तनिक भी संतोष नहीं मिलता है। यद्यपि मैं यह भली प्रकार जानता हूँ कि तुम्हारे बिना मेरी श्वासें व्यर्थ में नष्ट हो रही हैं फिर भी मोह की यह कठिन फाँसें मुझे नहीं छोड़ रही हैं।

टिप्पणी—हरिश्चन्द्र जी ने इस पद में जगत व्यवहार

का सूक्ष्म पर्यवेक्षण किया है। यह पद उनके विशाल अनुभवों का परिचायक है।

३६—**शब्दार्थ**—वृथा—व्यर्थ में ही।

भावार्थ—हरिश्चन्द्र जी कहते हैं कि यदि गोसाईं श्री विट्ठलनाथ जी का सत्संग न किया तो अनेक प्रकार के साधनों में पड़कर व्यर्थ भटकने से लाभ ही क्या हुआ ? यदि जीव ने गोसाईं जी के प्रेम-तत्व का हृदयंगम नहीं किया तो उसकी सारी रसिकता और चतुराई व्यर्थ है। जीव का कर्मों के कठिन जाल में पड़ना विषय-रस के प्राप्ति की चेष्टा करना तथा वेद का मन्थन करना आदि सब व्यर्थ हैं। जो गोसाईं विट्ठलनाथ जी से प्रेम करता है और उनके बिना सारे संसार को असत्य मानता है उसे ही पवित्र समझना चाहिए।

टिप्पणी—इस पद में स्वामी वल्लभाचार्य जी के पुत्र गोसाईं श्रीविट्ठलनाथ जी की स्तुति की गयी है। इससे जान पड़ता है कि कवि वल्लभाचार्य जी की शिष्य-परम्परा में दीक्षित है।

४०—**शब्दार्थ**—सिगरो—सारा; सिरान्यो—बीत गया।

भावार्थ—हरिश्चन्द्र जी कहते हैं कि हे कृष्ण प्यारे! आप हमारी परीक्षा न लीजिए क्योंकि हम आप की परीक्षा के योग्य नहीं हैं। आप अपने मन में यह समझ लें कि मैं पाप से ही उत्पन्न हुआ हूँ और पाप में ही अपना सारा जीवन व्यतीत कर चुका हूँ। ऐसी स्थिति में, मैं आपकी न्याय-तुला पर कैसे ठीक ठहर सकता हूँ। हे दयानिधान कृष्ण जी! आप भक्तों के स्वामी, दयालु और संसार की आपत्ति को दूर करने वाले हैं, आप मुझ (हरिश्चन्द्र) को दुखी देखकर मेरा शीघ्र ही उद्धार करें।

टिप्पणी—इस पद में भारतेन्दु जी अपने को इतना बड़ा पापी मान रहे हैं कि न्याय-तुला में चढ़ने का साहस ही नहीं करते। वे निरभिमान होकर प्रभु से अपनी मुक्ति के लिए विनय करते हैं।

वेणु-गीत

४१-शब्दार्थ—धनि—धन्य ; वेनु-धुनि—वंशी की ध्वनि।

सन्दर्भ—वैष्णव भक्तों का विश्वास है कि आनन्दकन्द श्याम का निकुञ्ज-विहार देखने और उनकी मुरली-ध्वनि सुनने के लिए ऋषि गण पशु-पक्षी के रूप में अवतरित हुए थे। इसी भावना को लेकर कोई गोपी अपनी सखी से कहती है।

भावार्थ—हे सखी! भगवान के माधुर्य रूप की उपासना करने वाले ये मुनिगण धन्य हैं जो कि भगवान कृष्ण के दर्शन की लालसा से वृन्दाबन के पक्षी हुए हैं। ये पक्षी उड़-उड़कर डाल के कोमल पत्तों पर मिलकर बैठ जाते हैं और आँखें मूँद कर बड़े शान्त भाव से वंशी-ध्वनि सुनते हैं। ये प्राणनाथ श्रीकृष्ण के मुख से निकली हुई वाणी का अमृत-रस पान किया करते हैं। हे सखी! विधाता की वामता तो देखो कि यह वाणी) हमें आज भी दुर्लभ है।

४२-शब्दार्थ—गोगन—गायें ; वेनु—वंशी ; अपूरब—विचित्र ; जंगम—चलने वाले।

सन्दर्भ—कोई गोपी अपनी सखी से कहती है—

भावार्थ—हे सखी! यह बड़े आश्चर्य की बात है कि जब श्रीकृष्ण जी धीरे-धीरे वंशी बजाते हुए बलराम और गोपवालों के संग में गो-चारण करने जाते हैं तो उनके अपूर्व वंशीरव

को सुनकर संसार के प्राणी अपनी गति भूल जाते हैं। वृक्षों को रोमाञ्च हो जाता है, जड़ पदार्थ गतिमान हो जाते हैं तथा, गतिशील प्राणी जड़ हो जाते हैं। जब श्रीकृष्ण जी गाय बाँधने की रस्सी कंधे पर रक्खे हुए, पगड़ी (साफा) बँधे माथ को झुकाये हुए, भ्रमर से युक्त बनमाला को गले में धारण किये हुए तथा हाथ में फूलछरी लिये हुए ग्वाल-बालों के संग में गीत गाते और वंशी बजाते हुए वन से लौटते हैं तो उनकी शोभा को देखकर हमारे अङ्ग-अङ्ग में काम की उमङ्ग बढ़ती है।

टिप्पणी—प्रस्तुत पद में गोचारण के लिए वन को ओर जाते तथा वन से लौटते समय का श्रीकृष्ण जी का चित्र भारतेन्दु जी ने बड़ी सावधानी से खींचा है।

होली

४३–शब्दार्थ—व्रज की बाम—व्रज की स्त्रियाँ।

भावार्थ—हे मनमोहन कृष्ण जी! तुम चतुर, सुजान, छबीले तथा व्रजवासियों के प्राण हो। तुम्हारे बिना सभी बहुत व्याकुल रहते है। व्रज की स्त्रियाँ अपना धन-धाम छोड़कर वन-वन व्याकुल हो तुम्हें ढूँढ़ती फिरती हैं। हे नन्दलाल प्यारे! जब तुम बांस की छोटी-सी बंशी (बजाने के लिए) हाथ में लेते हो तो देवांगनाएँ अपने पतियों का साथ छोड़कर वंशी की ध्वनि सुनने के लिए व्याकुल हो दौड़ पड़ती हैं। हे मोहन! तुम्हारी तान देवता, मुनि और मनुष्यों के मन को मोहित करने वाली है। तुम्हारी वंशीकी ध्वनि सुनकर यमुना का प्रवाह स्थिर हो जाता है, देवताओं के विमान आकाश में एक ही स्थान पर स्थिर रहते हैं, जड़ चैतन्य हो जाते हैं और चैतन्य जड़ हो जाते हैं। जब इन सब की ऐसी दशा है तो फिर हम अबला व्रजांगनाओं की बात ही क्या? तुम्हारी

मुरली की ध्वनि सुनते ही ब्रजबालाएँ लज्जा की शंका त्यागकर तुम्हारी ओर दौड़ पड़ती हैं और तुम्हें घेर लेती हैं। सभी गोकुल गावँ की सुधि भुलाकर तुम्हारे स्वरूप का ध्यान करती हुई तुम में लीन हो जाती हैं। हरिश्चन्द्र जी कहते हैं कि ब्रज की स्त्रियाँ धन्य हैं, सभी भक्त-जन उन पर निछावर हैं।

टिप्पणी—इस पद में मुरली का प्रभाव वर्णित है।

४४—शब्दार्थ—चाकर—सेवक; बदत न काहू—किसी को गिनता नहीं।

भावार्थ—हरिश्चन्द्र जी कहते हैं कि हम महारानी राधिका जी के सेवक हैं। हमारे स्वामी नन्दलाल श्रीकृष्ण जी हैं और स्वामिनी राधिका जी हैं। मैं सदैव निर्भय रहता हूँ; किसी को कुछ भी नहीं समझता तथा चण्डिका के भी डर से नहीं डरता। मैं युगल-मूर्ति के अनुपम स्वरूप पर सदैव दीवाना रहता हूँ।

४५—शब्दार्थ—इत सों उत—इधर से उधर।

सन्दर्भ—जिस समय उद्धव जी गोपियों को योग-मार्ग का उपदेश दे रहे थे उस समय एक भ्रमर बाहर से उड़ता हुआ आकर गोपियों के मध्य में मँडराने लगा। बस फिर क्या था, गोपियों ने इसी भौंरे को सम्बोधित करते हुए उद्धव जी की सारी बातों का उत्तर दिया और उन्हें कृष्ण-प्रेम में विभोर कर दिया। इस पद में कोई गोपी भौंरे को सम्बोधित करती हुई कह रही है।

भावार्थ—ऐ भौंरे! तू तो रस का लोभी है इसलिए तेरा बिश्वास ही क्या? तू अपने ही सुखों का गान करता हुआ मस्त होकर फूलों पर घूमता रहता है। पुष्पों के मधुर-पराग

का पान कर तू उन्मत्त हुआ इधर से उधर फिर रहा है। मैं तेरी कपट की बातों को अच्छी तरह पहचानती हूँ। अब मैं तेरे फंदे में नहीं आ सकती। (भाव यह है कि ऐ उद्धव जी! तुम स्वार्थी हो, तुम्हारा कुछ भी विश्वास नहीं है। तुम अपने ज्ञान के गुमान में फूले फिरते हो। हम तुम्हारी दाँव-पेंच की बातें अच्छी तरह जानती हैं इसलिए तुम्हारे योग के फन्दे में नहीं आ सकतीं।)

८६-**शब्दार्थ**—छिन हूँ—क्षण भर के लिए भी।

भावार्थ—हरिश्चन्द्र जी कहते हैं कि हे प्यारे प्राणनाथ! सुन्दर मनमोहन!! आप हमारे नेत्रों से क्षण भर के लिए भी अलग न हों। हे घनश्याम! आप गोकुल, गोपों और गोपियों के स्वामी हैं। हे बलराम जी के भ्राता! आप वृन्दावन के रक्षक तथा व्रज के सर्वस्व हैं। आप सब के मित्र तथा प्राणों से भी प्यारे हैं। हे राधिका के स्वामी तथा यशोदा और नन्द के पुत्र श्रीकृष्ण जी! आप क्षणभर के लिए भी मेरे नेत्रों से अलग न हों। आप के दर्शन बिना हमारे रोम-रोम में दुख भर जाता है। आप का स्मरण किये बिना संसार की प्रिय वस्तुएँ भी मुझे विष-तुल्य प्रतीत होती हैं। केवल आप ही मेरे दुखी जीवन की रक्षा करने वाले हैं इसलिए आप क्षण भर के लिए भी मेरे नेत्रों से अलग न हों। हे कन्हैया जी! आप ही मेरे जीवन के आधार हैं, आप के बिना सारा सुख-साज हमें अत्यन्त दुखदायी लगता है। हे मेरे नेत्रों के तारे, हे जीवनधन! आप क्षण भर के लिए भी मेरे नेत्रों के सामने से न हटें। आप के बिना एक क्षण करोड़ों कल्प के समान लम्बा लगता है और आप के बिना स्वर्ग नरक से भी अधिक दुखदायी हो जाता है। हे वनवारी! आपके संग में वन घर से भी अधिक सुखदायी हो जाता है। हे गिरधारी! आप ही

हमारे सर्वस्व हैं। आप हमारे मान की रक्षा करें और क्षण-मात्र के लिए भी मेरे नेत्रों के सामने से न हटें।

टिप्पणी—इस पद में हरिश्चन्द्र जी हर समय अपने प्रियतम श्रीकृष्ण को निगाहों के सामने रखना चाहते हैं। प्रियतम के सम्मुख रहने पर ही उन्हें पूर्ण आनन्द प्राप्त होता है इसके विपरीत उन्हें क्षण भर का भी वियोग अत्यन्त असह्य है!

चन्द्रावली

४७—शब्दार्थ—पराये—दूसरे के ; छुरे—छिप जाने पर ; वरज्यो—मना किया।

सन्दर्भ—कन्हैया से आँख लग जाने पर कोई गोपी उन्मत्त बनी फिरती है, वह अपनी सखी से नेत्रों की शिकायत करती है—

भावार्थ—हे सखी! मेरे ये नेत्र बहुत ही दुष्ट हैं। देखो न, जब से ये श्रीकृष्ण के नेत्रों से मिले हैं तब से ये उन्हीं के हो गये हैं। ये सदैव मनमोहन के रूप-रस को पाने की लालच में फिरते रहते हैं और उनके तनिक भी आँख ओट होते ही तलफने लगते हैं। ये ऐसे निगुरे हैं कि मेरी शिक्षा और प्रेम सब को त्याग दिया है। सारे संसार ने इन (नेत्रों) पर अपना क्रोध प्रकट किया और कृष्ण से प्रेम करने के लिए मना किया पर इन्होंने अपना हठ तनिक भी नहीं छोड़ा। ये देखने में तो अमृत से परिपूर्ण कमल-पुष्पों की भाँति प्रतीत होते हैं पर वास्तव में ये विष से बुझे हुए छुरे की भांति (तीक्ष्ण और घातक) हैं।

टिप्पणी—'विष से बुते छुरे'—कवि ने नेत्रों की ; घाव करने की शक्ति का अनुमान करके उसकी उपमा 'विष से बुते छुरे' से दी है। इसमें उपमा अलङ्कार है।

४८—शब्दार्थ—करन रही—करना था ; रस की बात—प्रेम की बात।

सन्दर्भ—श्रीकृष्ण के प्रेम से छकी हुई कोई गोपी उनसे वियुक्त हो जाने पर कहती है।

भावार्थ—हे कृष्ण प्यारे ! यदि तुम्हें ऐसा ही (बिछोह) करना था तो फिर तुम ने अपने मुख से रस भरी बातें क्यों कीं ? मैं ने तो यह समझा था कि जैसी इस समय बीत रही है वैसे ही आगे भी बीतेगी पर विधाता ने मेरे मनोरथ को उलटा कर दिया जिस से हमारी तुम्हारी कुछ भी नहीं निभी। मोहन ! तुम मेरी सुधि भुलाकर अब अन्यत्र रह रहे हो ; तुम ने अब कुछ और ही रवैया ग्रहण कर लिया है। (हाय !) मुझ से अब कुछ कहा नहीं जाता कि यह क्या से क्या हो गया।

टिप्पणी—गोपी का यह पश्चात्ताप अत्यन्त मर्मस्पर्शी है।

४९—शब्दार्थ—रूठे—नाराज ; परसौ—छुओ।

सन्दर्भ—कोई गोपी कृष्ण के विषय में कह रही है—

भावार्थ—ऐ मेरे प्यारे झूठे मोहन ! तुम आओ। तुम बड़े कपटी हो और अपनी प्रतिज्ञा से (विमुख होकर) हार चुके हो (फिर भी न जाने क्यों) उलटे मुझ से रूठ रहे हो। तुम्हारा अधरामृत किसी और ने पान कर जूठा कर दिया है, तुम्हारे अधरों पर उसके रंग लक्षित हो रहे हैं इसलिए व्यर्थ में तुम मेरे अधरों का स्पर्श न करो। मेरे शरीर का स्पर्श करते हुए क्या तुम्हें तनिक भी लज्जा नहीं मालूम होती है ? सचमुच तुम बड़े ही निर्लज्ज हो।

५०—शब्दार्थ—लौं—तक ; नेह-नगर—प्रेम नगर।

भावार्थ—हरिश्चन्द्र जी कहते हैं कि प्रेम की जोगिनि

आयी हुई है। उसके विशाल नेत्र कानों को छू रहे हैं उसकी चितवन में मद की अलसान बसी हुई है। वह प्रीति की रीति को जानने वाली और रसीली है तथा प्रेमियों के मन को भाने वाला है। यह प्रेम की जोगिनी प्रेम-नगर में अलख जगाती है और विरह की बधाई गाती है।

टिप्पणी—प्रस्तुत पद में प्रेम की जोगिनी का वर्णन अत्यन्त उत्तम है।

५१—शब्दार्थ—मनभाई—मन को अच्छी लगी।

भावार्थ—इस जोगिनि के मुख पर ऐसी अलकें लटक रही हैं जो अत्यन्त प्यारी, कारी, घुँघरारी तथा सब के मन को विमोहित करने वाली हैं। गेरुआ रंग के कुर्ते पर बिखरे हुए केश इसकी दूनी शोभा बढ़ाते हैं। यह जोगिनि सचमुच प्रेम की मूर्ति सी प्रतीत होती है। इसे देखकर सब की आँखें शीतल होती हैं।

टिप्पणी—इस में जोगिनि को गेरुआ वस्त्र धारण करा-कर प्रेम की साक्षात् मूर्ति बना दिया गया है।

प्रेम-माधुरी

५२—शब्दार्थ—जनमाई—पैदा किया।

सन्दर्भ—कोई विरहिणी गोपी विधाता को दोष देते हुए कहती है—

भावार्थ--विधाता ने सारे संसार को छोड़कर वियोगी व्रज वासियों के घर में ही हमें क्यों पैदा किया ? हाय दैव ! (श्रीकृष्ण का) मिलना तो दूर रहा उलटे उनके कारण हमें बदनामी सहनी पड़ी। तू ने हमें संसार के समस्त सुखों से वंचित कर वियोग का

असह्य दुख सहने के लिए जीवित कर रक्खा है। हाय विधाता ! तूने किस वैर के कारण हमें दुख देखने के लिए बनाया है।

५३—शब्दार्थ—पयान समै—विदाई के समय।

सन्दर्भ—विदाई के समय कोई स्त्री अपने पति से कह रही है—

भावार्थ—हे प्यारे ! यदि मैं आपको रोकती हूँ तो अमंगल होता है और यदि कहती हूँ कि "प्यारे आप जाइए" तो प्रेम का नाश होता है। यदि मैं यह कहती हूँ कि "आप न जाइए" तो मेरा प्रेम-गर्व प्रकट होता है। यदि मैं कुछ न कहकर मौन ग्रहण करती हूँ तो भी प्रेम नष्ट होता है तथा यदि मै यह कहूँ कि "आपके बिना मैं जीऊँगी ही नहीं।" तो इस पर आपको विश्वास ही कैसे होगा। इसलिए हे प्यारे ! आप को विदा करते समय मैं क्या कहूँ, बतला दीजिए ?

टिप्पणी—प्रस्तुत सवैये में विदाई का अत्यन्त मर्मस्पर्शी चित्र उपस्थित किया गया है।

५४—शब्दार्थ—हौस—लालसा ; हाल—समाचार।

सन्दर्भ—श्रीकृष्ण के वियोग में तड़पती हुई कोई गोपी कहती है—

भावार्थ—मैं प्रियतम श्रीकृष्ण के बिना व्याकुल होकर तड़प रही हूँ। मेरी दशा को देखकर कोई भी दया तो दिखलावे मैं प्रियतम के रूप-सुधा की प्यासी हूँ उनका सौन्दर्यामृत न पान कर सकने पर मैं अवश्य अपने प्राणों को त्याग दूँगी। कोई मुझ चातकी को घनश्याम का रूप-जल पिलाये और कोई दौड़

कर मेरे प्राणों की रक्षा करे क्योंकि कहीं ऐसा न हो जाय कि मेरे मन की बात मन में ही रह जाय और मेरे प्राण छूट जायँ। कौन जाने प्रियतम मेरे पास आयेंगे या न आयेंगे, इस लिए कोई जाकर उनसे मेरी यह दारुण दशा बताये (जिससे वे शीघ्र आकर मुझे दर्शन दें।)

टिप्पणी—मरण-दशा के समीप पहुँची हुई वियोगिनी गोपी की करुण-पुकार रसिकों के हृदय में सचमुच टीस उत्पन्न करती है।

५५—शब्दार्थ—वेदनि—वेदों में।

सन्दर्भ—भगवान् की रुखाई देखकर कोई भक्त उन्हें उलाहना देता है—

भावार्थ—हे प्रभो! आप दीनदयालु क्यों बने और गरीबों के पास दौड़कर उनसे प्रेम क्यों बढ़ाया? आप वेदों में करुणा-निधि (दया के भण्डार) कहलाये? आपने कृपा कर जिसको एक बार अपना लिया फिर उसके साथ ऐसी रुखाई क्यों की? आपको ऐसा न करना चाहिये हाँ, यदि आप का ऐसा स्वभाव पहले से ही था तो फिर आपको "गरीबनेवाज" (गरीबों पर कृपा करने वाले) के नाम से न प्रसिद्ध होना चाहिए था।

टिप्पणी—यह उपालम्भ अत्यन्त मनोहर और युक्ति-पूर्ण है।

५६—शब्दार्थ—आनतीं है—लाती हैं; पल में—पलक में।

सन्दर्भ—कोई वियोगिनी गोपी अपनी दुखिया आँखों के विषय में कहती है—

भावार्थ—मेरी ये आँखें सदैव प्रियतम श्रीकृष्ण के संग में लगी डोलती हैं, श्रीकृष्ण-दर्शन के बिना इन्हें क्षण भर भी चैन नहीं मिलता है। यदि कभी उनसे क्षण भर का वियोग हो जाता है तो ये प्रलयकालीन मेघों की भांति आँसुओं की धारा बहाने लगती हैं। उस समय यह बरौनी के नीचे नाचती रहती हैं और इन्हें नींद नहीं आती है। यह पलक के अन्दर बन्द रहना ही नहीं जानतीं प्रत्युत खुल-खुल पड़ती हैं। हे प्रियतम प्यारे! तुम्हें देखे बिना हमारी ये दुखी आँखें नहीं मानतीं।

टिप्पणी—देखिए "दुखिया आँखों" की कितनी करुणा-पूर्ण दशा है।

५७—शब्दार्थ—व्यापक—समाया हुआ।

सन्दर्भ—उद्धव जी जब यह कहते हैं कि उस ब्रह्म का जो कि विराट ब्रह्माण्ड में व्याप्त है, भजन करना चाहिए तो गोपियाँ उत्तर देती हैं—

भावार्थ—हे उद्धव जी! हमें यह भली भांति मालूम है कि ब्रह्म सभी स्थलों में पूर्णरूपेण व्याप्त है किन्तु हम बिना नन्द-लाल के सदैव व्याकुल रहती हैं इसलिए ज्ञान-चर्चा नहीं करतीं। कृपया आप उनसे जाकर यह कह दें कि "हे प्रियतम प्यारे! तुम्हें देखे बिना हमारी ये दुखिया आँखें नहीं मानतीं और इसके अतिरिक्त हम कुछ भी नहीं जानतीं।"

टिप्पणी—सच है, प्रियतम को देखने के लिए व्याकुल गोपियों का मन ज्ञान-चर्चा में क्यों लगने लगे? उनकी अभि-लाषा तो श्रीकृष्ण के दर्शन पर ही टिकी है।

५८—शब्दार्थ—आस—आशा; निरादर—अपमान।

भावार्थ—कोई वियोगिनी गोपी कहती है कि प्रियतम से मिलने की मेरी सारी आशाएँ छूट गयी हैं किन्तु अब मेरे प्राण न जाने कौन सा मनोरथ कर रहे हैं। ये अनेक दुखों को सहते हुए अड़े रहते हैं और कहीं भी नहीं भागते। यह सभी से निडर होकर बैठे रहते हैं और अपने अपमान की कुछ भी परवाह नहीं करते। मैं नहीं समझती कि ये पापी प्राण किस मोह से इस शरीर को नहीं छोड़ते।

टिप्पणी—इस सवैये का भाव अनूठा है।

५६—शब्दार्थ—हितू—प्रेमी; ठौर—स्थान।

भावार्थ—कोई विरहिणी गोपी कहती है कि हाय! मैं अपनी यह दारुण-दशा किससे कहूँ। मुझे ऐसा कोई भी नहीं दिखायी पड़ता जो मेरी बातों को सुनकर प्रियतम श्रीकृष्ण से सिफारिश करे। यों तो (वचन द्वारा) मेरा हित चाहने वाले करोड़ों व्यक्ति हैं पर कोई भी ऐसा नहीं है जो मेरे प्राणों की रक्षा करे। हे गिरिधारी! तुम्हारे वासस्थान को हमारी ये आँखें बलात् अश्रु-जल द्वारा डुबा दे रही है इसलिए तुम गोवर्द्धन-धारण करने वाली बात की याद करके दौड़ पड़ो और इन चोरों (आँखों) को अश्रु-वृष्टि करने से रोक दो।

टिप्पणी—भगवान् श्रीकृष्ण का दर्शन पाने के लिए इस गोपी ने बड़ी ही सुन्दर युक्ति खोजी है। अपने वास-स्थान को जलमग्न होने से बचाने के लिए गिरिधारी भला क्यों न दौड़कर चले आयेंगे। इसमें स्मरण अलङ्कार है।

६०—शब्दार्थ—अटके—रुके; हतभागिनी—अभागिनी।

सन्दर्भ—सबेरा होने पर कोई विरहिणी गोपी कहती है—

भावार्थ—पता नहीं क्यों मेरे ये पापी प्राण इस शरीर को नहीं छोड़ते। विधाता की भी गति नहीं जानी जाती कि वह हमारे पीछे क्यों हठकर पड़ा हुआ है। हाय! आज की रात्रि भी व्यतीत हो गयी किन्तु पता नहीं क्यों, प्रियतम के बिना भी ये प्राण नहीं निकल सके। हाय! यह सवेरा भी कदाचित इसीलिए हुआ है जिस से हमारी अभागिनी आँखें नित्य-प्रति दुख देखा करें।

टिप्पणी—प्रियतम के दर्शन की आकुलता इस सवैये में दर्शनीय है।

६१—शब्दार्थ—भाखत—कहते हैं।

सन्दर्भ—कोई दुःखिनी गोपी अपनी दयनीय दशा का वर्णन करती है—

भावार्थ—मैं नहीं जानती कि संसार में लोग सुख किसे कहते हैं। मैं चैन (आराम) का नाम सुनते ही चौंक पड़ती हूँ और भोगों की लालसा तो मुझे स्वप्न में भी नहीं दिखायी पड़ी; अतएव ऐसी दुखिया के पास से दूर हटकर बैठना चाहिये और इसका मुँह तक न देखना चाहिए। हे प्यारे! तुम मुझ दुःखिनी के पास न रहो, ऐसा न हो कि दुःख (की बीमारी) बढ़कर तुम्हें भी न लग जाय।

टिप्पणी—इस सवैये में दुःख को छूत का रोग बना दिया गया है। भारतेन्दु जी की यह सूझ वस्तुतः बहुत निराली है।

६२—शब्दार्थ—बिलोकि — देखकर ; पर्‍यो—पूर्ण हुआ है।

सन्दर्भ—श्रीकृष्ण के स्वरूप का दर्शन पाकर कोई गोपी अपनी सखी से कहती है—

भावार्थ—हे सखी ! श्रीकृष्ण के सुन्दर रूप को देखकर मेरा मन हाथ से निकल कर बहक गया ; उनकी माधुर्य मूर्ति को देखकर मेरा चित्त अनुराग से परिपूर्ण हो गया। श्रीकृष्ण के दर्शन के पश्चात अब मुझे औरों से कुछ भी काम नहीं। मुझे जो कुछ भी कलङ्क लगना था, लग चुका (अब उस से भयभीत होने की बात ही क्या) हे सखी मेरा ! मन कृष्ण-रंग में रंग गया है, इस पर अब दूसरा रंग चढ़ने का नहीं है।

टिप्पणी—"रँग दूसरो...रँग्यो"—सही बात है काले रंग में फिर कोई रंग नहीं चढ़ता। सूरदास ने भी कहा है—"सूरदास प्रभु कारी कामरि चढ़ै न दूजो रंग।

६३—शब्दार्थ—सजनी—सखी ; उपाव—उपाय।

सन्दर्भ—श्रीकृष्ण के प्रेम में छकी हुई कोई गोपी अपनी सखी से कहती है—

भावार्थ—हे सखी ! जिस देह और गृह के (लोभ के) कारण प्रेम टूट जाता है उस को धिक्कार है। प्राणप्यारे श्रीकृष्ण के बिना जीव को शरीर में रखकर क्या सुख मिलेगा ? अब तो जो प्रसङ्ग छिड़ा है उसको छिड़ने दीजिए ; यह हमारे नित्य के कलह को छुड़ा देगा। हे सखी ! हमें अब लोक-निन्दा रूपी विष पीना ही पड़ेगा, इसके अतिरिक्त मेरे लिए अब कोई उपाय शेष नहीं रह गया है।

टिप्पणी—प्रस्तुत सवैये में प्रियतम के प्रेम के सामने लोक-निन्दा से निर्भय रहने के लिए कहा गया है।

६४—शब्दार्थ—स्रवननि—कानों में ; जुलफैं—अलकें।

सन्दर्भ—कोई गोपी श्रीकृष्ण की वंशी बजाने, अंग संचालन करने आदि क्रियाओं पर मुग्ध होकर कहती है—

भावार्थ—हे कृष्ण प्यारे! तुम्हारी वंशी-ध्वनि हमारे कानों में हरदम बजती रहती है, तुम्हारे मुख की छवि बलपूर्वक हमारे चित्त को चुरा लेती है; तुम्हारी हँसी (हम पर) संसार को हंसाती है और तुम्हारी मुड़ने की कला हमारा मन संसार से मुड़ा लेती है। तुम्हारे पीताम्बर की फहरानि तथा तुम्हारा बोलना, चलना और बातें करना यह सब मिलकर हमें धैर्यहीन कर देता है। तुम्हारी जुलफें (अलकें) लोक लज्जा रूपी ताले को तोड़ देती हैं और तुम्हारे कटाक्ष हमारे प्राणों को अपनी ओर खींच लेते हैं।

टिप्पणी—प्रस्तुत कवित्त में श्रीकृष्ण की सम्मोहन-शक्ति का वर्णन अनूठे ढंग से किया गया है।

६५—शब्दार्थ—स्रौननि—कानों; पीतपट—पीताम्बर।

भावार्थ—कोई गोपी कहती है कि हे कृष्ण प्यारे! तुम्हारे पैरों के नूपुर की झनकार सदैव मेरे कानों में गूँजती रहती है और तुम्हारे चरणों में मेरा मन सदैव रमता रहता है। तुम्हारी वंशी की ध्वनि हमारे रोम-रोम को प्रफुल्लित करती है और तुम्हारे मुख की मन्द-मुस्कान हमारे मन को हर लेती है। तुम्हारा चलना, मुड़ना और बतलाना हमारे चित्त में बसा रहता है और तुम्हारी मुख-छवि हमारी आँखों में समाई रहती है। हे प्यारे! तू मुझे प्राणों से भी प्यारा है; तेरा पीताम्बर सदैव मेरे हृदय में फहरता रहता है।

६६—शब्दार्थ—घन—मेघ; सुरति—सुधि; बग-पंगति—बगलों की कतार।

सन्दर्भ—कोई वियोगिनी गोपी सावन की रात का वर्णन कर रही है—

भावार्थ—हे प्राणनाथ ! तुमने हमारी सुधि क्यों भुला दी जब कि मेघ चारों ओर से घिर रहे हैं। आकाश में बिजली और पृथ्वी पर जुगनू चमक रहे हैं, आकाश में उड़ती हुई बगलों की पंक्ति भी इन्हीं के समान सुन्दर शोभा देने वाली है अतएव ऐसे समय में मैं विरह के दुख से अत्यन्त व्याकुल हूँ और मेरा मन धीरज खो रहा है। हे प्रियतम नंदलाल !(मुझे ऐसा प्रतीत हो रहा है कि) तुम्हारे बिना यह सावन की रात कहीं द्रौपदी की साड़ी तो नहीं हो गयी (जो इतनी लम्बी होती जा रही है !)

टिप्पणी—पावस के समय जब आकाश में मेघ गरजने लगते हैं तो विरही-विरहिणी को दुःख होता है, प्रस्तुत कवित्त में पावस का आगमन होने पर विरहिणी गोपी दुखित हुई है।

६७—शब्दार्थ—फूली सी—प्रसन्न हुई सी ; नेकु—थोड़ा ; निशानी—चिह्न ।

भावार्थ—हे सखी ! तू कभी प्रसन्न हुई सी, कभी भ्रमित हुई सी, कभी चौंकी सी, कभी उचकी सी और कभी इतनी दुखी सी रहा करती है कि तुझे अपने घर की कुछ भी सुधि नहीं रहती है। तू कभी मोहित हुई सी, कभी ललचाई सी तथा कभी इस प्रकार मन ही मन प्रसन्न होती है कि तू अपने घर की सुधि भूली सी रहती है। तू कभी रिसानी सी रहती है, कभी फूले अङ्ग नहीं समाती और कभी हँस-हँसकर उमङ्ग में आ प्रेम भरी बातें करती है। (तेरी इस दशा से अभिज्ञ होने के लिए) यदि कोई तुझ से कुछ पूछता है तो तू निरुत्तर हो जाती है और (प्रश्नकर्त्ता पर) क्रोधित हो जाती है। तेरी इन सभी बातों पर

विचार कर हमने यह समझ लिया है कि तुझ में अब प्रेम का उदय हो रहा है।

टिप्पणी—प्रस्तुत कवित्त में गोपी की प्रेमारम्भ के समय की दशा दिखलाई गई है।

६८—शब्दार्थ—भोई—नीच व्यक्ति।

भावार्थ—हरिश्चन्द्र जी कहते हैं कि ऐ मेरे मन! इस संसार में जन्म लेकर किसी को किसी से शत्रुता न करनी चाहिए और सब को उसकी इच्छा के अनुसार कार्य करने देना चाहिए। यदि तू संसार भर में सर्व-श्रेष्ठ होना चाहता है तो ब्राह्मण की, क्षत्रियों की, वैश्य की, शूद्र की, डोम की, आचार-विचार से पतित व्यक्ति की, ग्वाल की, अत्यन्त नीच व्यक्ति की, भले की, बुरे की; मुझ जैसे पतित की, थोड़े व्यक्तियों की, बहुत व्यक्तियों की अथवा एक या दो व्यक्तियों की ही सही कभी भी निन्दा न करनी चाहिए।

टिप्पणी—प्रस्तुत कवित्त में परनिन्दा से बचने का उपदेश दिया गया है।

६९—शब्दार्थ—थाकी—शिथिल हो गयी; रावरे—आपके।

सन्दर्भ—कोई वियोगिनी गोपी कहती है—

भावार्थ—हे प्यारे कन्हैया! आपके विरह के कारण मुझे यह संसार दुखमय प्रतीत होता है और भवितव्यता कुछ और ही दृष्टिगोचर होने लगी है। वियोग के कारण अब

शरीर शिथिल हो गया है, बुद्धि कुण्ठित हो गयी है, शरीर सूखकर झाँझर हो गया है, देह पीली पड़ गयी है, बुद्धि बावली हो गयी है, हँसी जाती रही है और सुख के सारे साज अब मुझ से दूर हो रहे हैं। मेरे नेत्र कुम्हिलाने लगे हैं, वाणी भी कण्ठ में अवरुद्ध हो रही है तथा अब प्राण भी मुरझा रहे हैं इसलिए हे प्राणनाथ ! आप शीघ्र ही आकर मेरी प्राण रक्षा करें।

टिप्पणी—प्रस्तुत कवित्त में विरह का बड़ा ही मार्मिक वर्णन हुआ है। इसका अन्तिम चरण बड़े मार्के का है।

७०—शब्दार्थ—लावण्य-धाम—सुन्दरता के भण्डार अर्थात् कामदेव ; बंक गति—टेढ़ी चाल ; सुअंक—ललाट, मस्तक।

भावार्थ—हरिश्चन्द्र जी कहते हैं कि श्रीकृष्ण जी का शरीर सुन्दर, चिकना, सुढार-युक्त और शोभा देने वाला है ; उनके अङ्गों की लटक करोड़ों कामदेव के समान सुन्दर है। नटवर श्रीकृष्ण के चरण-कमल कोमल हैं तथा उनके शरीर की पोर-पोर ऐसी छविमान है कि उसके सामने करोड़ों कामदेव की शोभा फीकी जान पड़ती है। वे लचकती हुई कटि से लेकर शिर पर्यन्त अपने शरीर को तिरछा किये हुए हैं और कोमल हाथों में वंशी लेकर वजा रहे हैं। कानों में कुण्डल और शिर में तिरछे ढङ्ग से मोर पंख धारण करने वाले राधिका-रमण बाँकेबिहारी श्रीकृष्ण जी की जय हो, जय हो।

टिप्पणी—प्रस्तुत कवित्त में नटवर श्रीकृष्ण की त्रिभंगी मूर्ति की छवि वर्णित है।

७१—**शब्दार्थ**—सङ्कट समन—विपत्ति को नष्ट करने वाले ; देव मद के दमन जू—देवराज इन्द्र का गर्व चूर्ण करने वाले।

भावार्थ—हरिश्चन्द्र जी कहते हैं कि हे श्रीकृष्ण जी ! आप श्री गोपाल भट्ट के सुकृत को पूर्ण करने वाले, भक्तराज के सङ्कट को दूर करने वाले, गजेन्द्र के प्राण की रक्षा करने वाले, द्रौपदी की लाज बचाने वाले और गोवर्द्धन-धारण कर देवराज इन्द्र के गर्व को चूर्ण करने वाले हैं। दासी कुबरी की दीनता और दुख को हरने वाले आपके सुन्दर चरण, सुख देने वाले और सम्पत्ति के भण्डार हैं। हाथ में मुरली और लाठी धारण करने वाले, शिर में मोर पंख के मुकुट को धारण करने वाले तथा राधिका जी के साथ विहार करने वाले आप हमारे दुखों को नष्ट करें।

७२—**शब्दार्थ**—उनयौ—उमड़ा रहता है।

भावार्थ—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र कहते हैं कि अनुपम प्रेम-रस के भण्डार जिन आनंदघन (श्रीकृष्ण) की कृपा से मैं ने प्रेम-मार्ग का वर्णन किया है वे सदैव उनये रहें (मुझ पर कृपा करते रहें।)

७३—**शब्दार्थ**—मजति भई—मजने लगीं।

भावार्थ—हरिश्चन्द्र जी कहते हैं कि व्रजांगनाएँ प्रेम की परात्पर अवधि हैं, इन सब ने वंशी की मधुर ध्वनि का श्रवण कर अपनी लज्जा आदि का परित्याग कर दिया और श्रीकृष्ण का ध्यान करने लगीं।

७४—शब्दार्थ—बिबस—लाचार होकर।

भावार्थ—श्रीकृष्ण के प्रेम-पाश में फँसी इन गोपियों ने भले ही आर्योचित मर्यादा का उल्लंघन कर दिया हो पर वास्तव में ये ब्रजमोहन श्रीकृष्ण के मन को मोहित करने वाली थीं। इनका प्रेम दिव्य और पूर्ण था।

७५—शब्दार्थ—रमा—लक्ष्मी।

भावार्थ—ब्रज-रज के आनन्द को पाने के लिए लक्ष्मी जी क्यों न लालायित हों जब कि यह ब्रजभूमि राधाकृष्ण के चरणों से चिह्नित होकर अवर्णनीय शोभा को धारण किये हुए है।

७६—शब्दार्थ—श्री पद-पंकज धूरि—श्रीकृष्ण के चरण-कमल की धूलि।

भावार्थ—एक (प्रभु की) कृपा के कारण मनुष्य को मति-गति और रति प्राप्त होती है किन्तु राधाकृष्ण के चरण कमल की रज इस (भगवत् कृपा) से भी बढ़कर है, इस रज की प्राप्ति हो जाने से मति, गति और रति के मिलने की लालसा फीकी पड़ जाती है।

७७—शब्दार्थ हारि—थक गये।

भावार्थ—हरिश्चन्द्र जी कहते हैं कि गोपियों के अद्भुत प्रेम को देखकर और समझ कर हम दंग रह गये। वास्तव में गोपियों की तरह प्रेम की सीमा तक कौन पहुँच सकता है। इनके अद्भुत प्रेम को देखकर रसिकवर

श्रीकृष्ण जी ने अपनी हारी मान ली और इनके वशीभूत हो गये।

७८—**शब्दार्थ**—अतुल—अतुलनीय ; अपूरब—विचित्र

भावार्थ—हरिश्चन्द्र जी कहते हैं कि गोपी और श्रीकृष्ण का समाज अत्यन्त आनन्दमय है, इनका शृंगार अपूर्व है तथा इनके रूप और गुण का माधुर्य अनुपम है।

७९—**शब्दार्थ**—व्रज संपदा—व्रज की सम्पत्ति।

भावार्थ—हरिश्चन्द्र जी कहते हैं कि व्रज की सम्पत्ति और परम प्रेम, गुण, रूप व रस के स्वरूप नंदलाल श्रीकृष्ण की तथा श्री गोपियों की जय हो, जय हो, जय हो।



८—जगन्नाथदास 'रत्नाकर'

रत्नाकर के काव्य की पृष्ठभूमि—ब्रजभाषा की पुरानी परिपाटी पर चलने वाले कवियों में बाबू जगन्नाथदास 'रत्नाकर' का नाम बड़े आदर से लिया जाता है। पंडित अम्बिकादत्त 'व्यास' और बाबू रामकृष्ण वर्मा के प्रयत्न से काशी में जो कवि समाज चलता था, रत्नाकर जी उसमें बड़े उत्साह से भाग लेते थे और ब्रजभाषा में अपनी समस्या-पूर्तियाँ सुनाते थे। धीरे-धीरे ब्रजभाषा से इनका अनुराग बढ़ता गया और ये उसके अच्छे कवियों में गिने जाने लगे। भारतेन्दु जी की भाँति ये भी ब्रजभाषा की पुरानी परिपाटी के परिपोषक थे। रत्नाकर जी के काव्य-काल में खड़ी बोली की रचनाएँ बड़े वेग से हो रही थीं और ब्रजभाषा को काव्य-भाषा के पद से हटाया जा रहा था किन्तु ब्रजभाषा के अनन्य-भक्त रत्नाकर जी खड़ी बोली की सरगर्मी से तनिक भी विचलित नहीं हुए। वे बराबर ब्रजभाषा की सेवा में लगे रहे। उन्होंने अपनी विलक्षण प्रतिभा एवं अद्भुत काव्य कौशल द्वारा ब्रजभाषा को प्रौढ़ काव्य-भाषा का रूप दिया और उसकी मधुरता और सरसता की धाक जमा दी।

वर्ण्य-विषय-रत्नाकर जी ने ब्रजभाषा की परिपाटी के मुक्तक कवियों की भांति बहुत से फुटकल कवित्त लिखे हैं, ये शृंगार और वीर दोनों रसों में हैं। 'हिंडोला' इनका पहला काव्य-ग्रन्थ है। 'समालोचनादर्श' अँग्रेज कवि पोप के 'एसे आन

क्रिटिसिज्म' का अनुवाद है। 'हरिश्चन्द्र' 'गंगावतरण' और 'उद्धव शतक' ये तीनों ग्रन्थ इनके प्रसिद्धि-प्राप्त प्रबन्ध काव्य हैं।

समीक्षा—रत्नाकर जी एक प्रौढ़ साहित्य-मर्मज्ञ कवि थे। इनकी कवि-दृष्टि बहुत व्यापक थी। इनमें सूक्ष्म निरीक्षण, मार्मिक स्थलों की पहचान और स्वतंत्र प्रसङ्गों की उद्भावना करने की विलक्षण शक्ति थी। रोला और कवित्त लिखने में इन्होंने बहुत सफलता पायी है। सवैये भी लिखे हैं पर कवित्तों और रोलों की अपेक्षा कम लिखे हैं। इन्होंने अपनी रचना में जिन भावों को जहाँ पर उठाया है उन्हें बड़ी ही कुशलता से उनके लक्ष्य तक पहुँचाया है। अनुभाव, विभाव और संचारी भावों का चित्रण इतनी बारीकी से किया है कि हिन्दी के बहुत कम कवि वैसा चित्रण करने में सफल हो सके हैं। 'गंगावतरण' काव्य के आरम्भ में जब इन्होंने भगवती वीणापाणि का ध्यान किया तो हृदय से पहला कवित्त इस प्रकार निकला—

> सुमिरत सारदा हुलसि हँसि हंस चढ़ी,
> बिधि सौं कहति पुनि सोई धुनि ध्याऊँ मैं।
> ताल-तुक हीन अंग-भग छवि-छीन भई,
> कविता बिचारी ताहि रुचि रस प्याऊँ मैं।
> नन्ददास देव घनआनन्द बिहारी सम,
> सुकवि बनावन की तुम्हें सुधि धाऊँ मैं।
> सुनि रत्नाकर की रचना रसीली नैंकु,
> ढीली परी बीनहि सुरीली करि ल्याऊँ मैं।

इस गर्वोक्ति के पश्चात् रत्नाकर जी 'गंगावतरण' की रचना करने में प्रवृत्त हुए। इससे स्पष्ट है कि रत्नाकर जी नन्ददास, देव, घनआनन्द और बिहारी के समान सुकवि बनना चाहते थे। इस लक्ष्य को सामने रखकर रत्नाकर जी ने प्रयत्न भी किया

है, यह उनके 'गंगावतरण' और 'उद्धव शतक' को देखने से स्पष्ट लक्षित होता है। भगवती वीणापाणि ने अपने अनन्य भक्त रत्नाकर की इस अभिलाषा को बहुत अंशों में पूर्ण कर दिया है। इनकी रचना में नन्ददास की भाषा जैसा माधुर्य है और कोमल कान्त-पदावली का व्यवहार है। देव की भाँति नये प्रसंगों की उद्भावना करने और उन्हें पूरा उतार देने का हौसला है, आनन्दघन की भाँति लाक्षणिकता और सांकेतिकता है और बिहारी की भांति समासिकता और संक्षिप्तता है। इन चारों कवियों में रत्नाकर जी बिहारी और आनन्दघन से विशेष प्रभावित हुए हैं। 'बिहारी सतसई' का गम्भीर अनुशीलन करने के कारण बिहारी की भाषा, भाव और शैली की इन पर अद्भुत छाप पड़ गयी। बिहारी के समान भाषा की चुस्ती पर अधिक ध्यान देने के कारण इनके कवित्तों की भाषा कुछ जकड़ सी गई है। मुहाविरों का प्रयोग करने में रत्नाकर जी ने अद्भुत कौशल दिखलाया है। उदाहरणार्थ एक कवित्त देखिए—

जोगिनि की भोगिनि की विकल वियोगिनि की,
  जग मैं न जागती जमातैं रहि जाइँगी।
कहै रतनाकर न सुख के रहे जौ दिन,
  तौ ये दुख-द्वंद की न रातैं रहि जाइँगी॥
प्रेम नेम छाँड़ि ज्ञान-छेम जो बतावत सो,
  भीति ही नहीं तौ कहा छातैं रहि जाइँगी।
बातैं रहि जाइँगी न कान्ह की कृपा तैं इती,
  ऊधौ कहिबे कौं बस बातैं रहि जाइँगी॥

रत्नाकर जी की प्रारम्भिक कविताएँ परम्परा-भुक्त हैं, उन में प्रायः प्राचीन कवियों की उक्तियों का पिष्टपेषण है किन्तु इनकी अधिकांश रचनाएँ मार्मिक और प्रभावशालिनी हैं इनमें कवि

की अनुभूति लक्षित होती है। रत्नाकर जी ने शृंगार, वीर और करुण रस में अधिक कविताएँ की हैं। अन्य रसों का भी थोड़ा बहुत वर्णन किया है किन्तु किसी रस को इन्होंने छोड़ा नहीं है। रत्नाकर जी के काव्य में प्राचीन काव्य के अनेक ग्रन्थों का सामंजस्य मिलता है, प्राचीन काव्य-भाषा में जो दोष आ गया था उसको सुधारने का प्रयत्न भी इन्होंने किया है। गोस्वामी तुलसीदास जी की भांति इन्होंने राम, कृष्ण, शिव, गणेश और सरस्वती आदि देवताओं की वन्दना की है। ये सिद्धान्त की दृष्टि से अद्वैत के समर्थक थे—

एक ही साँचौ स्वरूप अनूप है,
खाँचौ यहै मन एक लकीरैं।
त्यौं रतनाकर सेस कौ भेस,
असेस लसैं भ्रम की भरी भीरैं।
ता बिनु और जो देखि परैं,
थिति ताकी गुनौ औ गुनौ धरि धीरैं।
लोचन द्वैतता दोष लगैं,
यह एक तैं ह्वै गई द्वै तसवीरैं।

पर व्यावहारिक दृष्टि से द्वैत भाव को ही स्वीकार करते थे और एतदर्थ प्रेममार्ग को अधिक उपयुक्त समझते थे—

आए है कहाँ तैं कहाँ, जाइऔ कहाँ है फेरि,
काकी खोज माँहि फिरैं जित तित मारे हैं।
कहैं रतनाकर कहा है काज तासों पुनि,
काज और अकाज के बिभेद कत न्यारे हैं।
भेद भावना कौ कहा कारन और काज कछू,
कारन और काज के कहाँ लगि पसारे हैं।

ये सब प्रपंच गुनें ज्ञान मतवारे बैठि,
हम तौ तिहारे प्रेम पान मतवारे हैं।

रत्नाकर जी का प्रकृति वर्णन अत्यन्त उत्कृष्ट हुआ है। 'गंगावतरण' काव्य में गंगा के पृथ्वी पर आने का जो वर्णन है वह तो मन को मुग्ध कर देता है। 'उद्धव शतक' रत्नाकर जी का अंतिम काव्य है, इस में उनकी प्रौढ़ काव्य-कुशलता दिखायी पड़ती है। इसका वर्ण्य-विषय वही है जो सूरदास और नंददास के भ्रमर गीत का। रत्नाकर जी ने इस पिष्टपेषित विषय को अनूठे ढंग से वर्णन कर अपनी विलक्षण काव्य-प्रतिभा दिखायी है। सूरदास एवं नन्ददास के भ्रमर गीतों और इनके 'उद्धव शतक' में शैली के अतिरिक्त कोई विशेष मौलिक अन्तर नहीं है। थोड़ा-सा अन्तर जो दिखाई पड़ता है, वह यह है कि कथा के आरम्भ करने का ढंग इनका पहले के कवियों से भिन्न है। कृष्ण एवं गोपियों में तुल्यानुराग की उद्भावना करके भी रत्नाकर जी ने पूर्ववर्ती कवियों से कुछ भिन्नता दिखायी है। शेष सारी बातें प्रायः एक ही प्रकार की हैं। इस में उद्धव और गोपियों के युक्तिपूर्ण-कथनों का सुन्दर विधान किया गया है, इसके सभी कवित्त बड़े मनोहर हैं।

उदाहरणार्थ एक कवित्त यहाँ उद्धृत किया जाता है। गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि योगी से वियोगी किसी भी दशा में कम नहीं हैं इसके लिए वे प्रमाण देती हैं—

वे तौ बस बसन रँगावैं मन रंगत ये,
भसम रमावैं वे ये आपु हीं भसम हैं।
साँस-साँस माहिं बहु बासर बितावत वे,
इन कैं प्रतेक साँस जात ज्यौं जनम हैं।
ह्वै कै जग-भुक्ति सौं विरक्त मुक्ति चाहत वे,
जानैं ये भुक्ति मुक्ति दोऊ विष सम हैं।

करि कै बिचार ऊधौ सूधौ मन माँहि लखौ,
जोगी सौं वियोग-भोग-भोगी कहा कम हैं।

इस प्रकार रत्नाकर जी की सम्पूर्ण रचनाओं को देखकर यह सरलता से कहा जा सकता है कि वे व्रजभाषा के सिद्धहस्त महाकवि थे।

भाषा और शैली—भारतेन्दु जी ने व्रजभाषा के पुराने और काव्य-परम्परा से उठे हुए बहुत शब्दों को छाँटकर व्रज की काव्य-भाषा को बहुत चलता हुआ रूप दिया था जिस से वह बोलचाल की व्रज-भाषा के निकट आ गयी थी पर रत्नाकर जी ने अपने अगाढ़ अध्ययन के बल पर पुराने शब्दों का फिर से प्रयोग किया। इन्होंने लाक्षणिक पदावली का अधिक प्रयोग कर भाषा को बहुत सशक्त बनाया है। इनकी काव्य-भाषा व्याकरण-सम्मत है। इनकी रचना में कहीं-कहीं पूरबी शब्दों का प्रयोग मिलता है। मुहाविरों की कलाबाजी में इन्होंने खूब दिलचस्पी ली है। इनकी भाषा बहुत चुस्त, कसी हुई और परिमार्जित है। इनकी शैली में मौलिकता का विशेष गुण है, सच पूछिए तो इस में 'रत्नाकरत्व' की पूरी छाप लगी हुई है।

—:o:o::o::o:o:—

८—जगन्नाथदास रत्नाकर

—::※::—

उद्धव शतक

१—**शब्दार्थ**—अचैन—अशान्त ; कदली वन—केले का वन ; मताए—मतवाले बने ; नहान—स्नान ; नीकैं—भली-भाँति ।

सन्दर्भ—मथुरा प्रवास के दिनों में एक बार श्रीकृष्ण जी अपने मित्र उद्धव के साथ यमुना-स्नान करने गये। वहाँ उन्हें एक कमल पुष्प बहता हुआ मिला। उस को देखते ही उन्हें राधिका के कमलवत् मुख का स्मरण हो आया। इस के पश्चात् उनकी जो दशा हुई उसका वर्णन रत्नाकर जी कर रहे हैं।

भावार्थ—यमुना में बहते हुए कमल पुष्प में राधिका के समान सुन्दर सुगन्धि पाकर श्रीकृष्ण जी को राधिका का ध्यान हो आया फिर तो वे तुरन्त ही कदली वन के हाथी की तरह मतवाले हो गये। तत्पश्चात् वे मित्र उद्धव के गले में अपनी बाँह डाले हुए घर की ओर चले। (विरह की व्यग्रता के कारण) रास्ते में उनके पैर डगमगाते हुए पड़ रहे थे। उस समय वे बुलाने पर न तो कुछ बोलते थे और न अपने नेत्र ही खोलते थे। उस समय उनका चित्त भी बहुत व्याकुल हो रहा था। रत्नाकर जी कहते हैं कि श्रीकृष्ण जी यमुना नहाने गये थे पर (कुछ ऐसा संयोग हुआ कि) वे प्रेम की नदी में भली-भांति डुबकी लगाकर लौटे हैं।

टिप्पणी—प्रस्तुत कवित्त में श्रीकृष्ण जी के प्रवास-जन्य विरह का प्रारम्भिक रूप दिखाया गया है। इसमें स्मरण, उपमा और रूपक अलंकार है।

२—शब्दार्थ—प्रेमपगे—प्रेम से शराबोर ; लालन—दुलार करना ; सुधाकर-प्रभा—चन्द्रकान्ति ; सुख-रासिनि—आनन्द की राशियाँ।

सन्दर्भ—उद्धव जी के प्रश्न करने पर श्रीकृष्ण जी अपनी बेचैनी का कारण बताते हैं—

भावार्थ—उद्धव जी ! नन्द और यशोदा के प्रेमपूर्वक पालन करने व प्यार करने की लालच लगाती हुई, चन्द्रमा की कान्ति से युक्त सुन्दर मृगाक्षी गोपियों के गुणों का गायन करती हुई और जमुना के कछारों में (गोपियों के साथ) आमोद-प्रमोद व झगड़ा करने तथा वन में घूमने की अभिलाषा को उत्तेजित करती हुई अत्यन्त आनन्द देने वाली ब्रजवासियों की सुधि हमें नित्य बुलाने के लिए आती है।

टिप्पणी—इस में स्मरण अलङ्कार है।

३—शब्दार्थ—अघात—तृप्त होते ; उबरि—उबलकर ; दिननि के फेर—समय के फेर ; हेर-फेर—परिवर्तन ; हेरि-फेरि—बार-बार ; हेरिबोई—देखने के योग्य ; फिरबौ करैं—नाचा करते हैं।

सन्दर्भ—श्रीकृष्ण जी ब्रज में की गयी लीलाओं का स्मरण कर उद्धव जी से कहते हैं।

भावार्थ—पहले (प्रकृति के) जिस सौन्दर्य-रस का पान करते हुए (मेरे नेत्रों को) तृप्ति नहीं होती थी वही अब उबलकर आँसुओं के रूप में गिर रहा है ; जिन (ब्रजवासियों)

को देखकर पहले मेरी छाती शीतल होती थी अब उन्हीं की याद आने पर (हृदय में) आँवे की तरह जलन हो रही है, जिन कुंजों में, मैं आठों पहर घूमता रहता था वही अब मेरी आँखों में हर समय घूमा करते हैं। (मैं क्या कहूँ) समय के फेर से कुछ ऐसा परिवर्तन हो गया है कि बार-बार वही दृश्य सामने आता है (जिसको मैं भुलाना चाहता हूँ।) .

टिप्पणी—श्रीकृष्ण जी का विरह इस कवित्त में अत्यन्त उत्कृष्ट हुआ है।

४—शब्दार्थ—क्रीट—मुकुट ; विरहानल—विरहाग्नि ; विहाय—छोड़कर ; ठाकुर—स्वामी।

भावार्थ—श्रीकृष्ण जी उद्धव से कहते हैं कि हम मोर पंखों के सुन्दर मुकुट को सिर से उतार कर फिर (उस पर) मणि-विभूषित मुकुट को धारणकर क्या करेंगे, इसी प्रकार स्नेह युक्त मक्खन के बिना षटरस व्यंजन चबाकर क्या करेंगे, गोपियों और ग्वाल-बालों को विरह की अग्नि में झोंककर देवताओं का स्वामी बनकर क्या करेंगे, हाय ! 'गोविन्द' और 'गोपाल' जैसा अपना प्यारा नाम त्यागकर, त्रिलोकी का अधिपति कहलाकर ही हम क्या करेंगे ?

टिप्पणी—प्रस्तुत कवित्त में श्रीकृष्ण जी ने अपने राजसी ठाट-बाट व ऐश्वर्य पर असंतोष व्यक्त किया है। इस में उनका व्रज के प्रति अत्यधिक अनुराग झलक रहा है।

५—शब्दार्थ—सील-सनो—(१) शीलता से युक्त (२) शीलयुक्त ; सुबात—(१) चर्चा (२) सुन्दर वायु ; दुरदिन—विपत्ति के दिन।

भावार्थ—रत्नाकर जी कहते हैं कि जब श्रीकृष्ण जी ने उद्धव से पहले (बचपन के समय) की शील-सनी और प्रेम भरी बातें करना आरम्भ कर दिया तो उस समय जल्दी-जल्दी खुलने और बन्द होने से उनके (नेत्रों में) और ही चमक आ गयी। (ब्रज से वियुक्त होने के कारण) श्रीकृष्ण जी अब अत्यन्त अधीर और व्याकुल हो गये थे इसलिए उनके अर्द्ध-निमीलित नेत्र अचानक चमक उठे (और आँखों से आँसू गिरने लगे जिस के कारण) ब्रज में सुदिन का आगमन हुआ, वहाँ चारों ओर आनन्द छा गया और देवलोक में चारों ओर विपत्ति दिखायी देने लगी। जब श्रीकृष्ण जी के नेत्रों से अश्रु-धार प्रवाहित होने लगी तो उद्धव जी का अचल-हृदय भींग गया (और वे व्याकुल हो गये)। श्रीकृष्ण जी की अश्रु-धार में पड़कर उनका सारा धैर्य बह गया।

टिप्पणी—(१) सील-सनी... हरियाने तें—तक के पद श्लिष्ट हैं। कवि ने इनके सहारे पुरवा हवा द्वारा वृष्टि होने का रूपक दिखलाया है।

(२) दुरदिन दीख्यौ सुरपुर मांहि—ब्रज-जीवन की पवित्र-स्मृति आने पर जब श्रीकृष्ण जी अत्यन्त अधीर हो जाते हैं तो ऐसा प्रतीत होता है कि वे ब्रज में पुनः लौट आयेंगे और देवताओं का कार्य सिद्ध न होगा। इसलिए रत्नाकर जी ने सुरपुर में 'दुरदिन' और ब्रज में 'सुदिन' दिखलाया है।

(३) इस में श्लेष तथा रूपक अलङ्कार है।

६—शब्दार्थ—निवारि—निकालकर ; प्रतीत—विश्वास ; सीख—शिक्षा ; भीख—भिक्षा।

सन्दर्भ—उद्धव की ब्रह्मज्ञान की बातों को सुनकर श्रीकृष्ण जी कहते हैं—

भावार्थ—हे उद्धव ! यदि तुम एक बार गोकुल की गलियों में घूम आओ तो हम तुम्हारे ब्रह्मज्ञान के सिद्धान्त पर विश्वास कर लेंगे और तुम्हारी शिक्षा को मन, हृदय, शिर, कान और आँख से भिक्षा की भांति आदरपूर्वक ग्रहण कर लेंगे। उस समय हम नेम के निष्फल प्रेम को हृदय से निकाल कर उस के स्थान पर आनन्द के भण्डार ब्रह्मज्ञान को स्थापित कर लेंगे और चन्द्रमुखी गोपियों की पवित्र स्मृति को आँसुओं से धोकर (उसके स्थान पर) ब्रह्म ज्योति जला लेंगे।

७—शब्दार्थ—पन—प्रतिज्ञा ; निहार—देखकर ; कातर—दुखी ; आतुर—व्याकुल ; छरकि—खुल गई।

भावार्थ—रत्नाकर जी कहते हैं कि उद्धव जी सुयश प्राप्त करने की इच्छा करके अत्यन्त उमंगित एवं उत्साहित होकर संदेश और उपदेश की प्रतिज्ञा लेकर व्रज को चले किन्तु श्रीकृष्ण जी को अत्यन्त दुखी देखकर वे इतने व्याकुल हो गये कि उन का मन हाथ में न रहा। फिर तो पता नहीं कब उनकी ज्ञान रूपी गठरी की गाँठि खुल गयी जिससे (यमुना के) कछार में धीरे-धीरे (ज्ञान की) सारी पूँजी गिर गयी। उनकी यह पूँजी कुछ तो तमाल वृक्षों की डाल में खो गयी और कुछ करील-वृक्षों की झाड़ में उलझ गयी। (भाव यह कि जमुना के कछार में पहुँचकर उद्धव जी ने ज्यों ही तमाल और करील-वृक्षों की सुन्दरता को देखा त्यों ही उनका मन इस प्रकार रम गया कि उन्हें अपने ज्ञान का कुछ भी ध्यान न रहा।)

टिप्पणी—प्रस्तुत कवित्त में ज्ञानी उद्धव पर अत्यन्त मनोवैज्ञानिक ढंग से प्रेम-रंग चढ़ाया गया है इस में वृत्यनुप्रास की बहार देखते ही बनती है।

८–शब्दार्थ—नन्द-पौरि—नन्द के द्वार ; पेखि-पेखि—देख-देखकर।

भावार्थ—श्रीकृष्ण के भेजे हुए उद्धव के आगमन की बात ब्रज के गाँवों में जब गोपियों ने सुना तो दौड़-दौड़कर झुण्ड की झुण्ड नन्द के द्वार पर आने लगीं। (वहाँ भीड़ होने के कारण) वे अपने कमलवत् चरणों के पञ्जों पर उचक-उचककर श्रीकृष्ण की चिट्ठी को देखने लगीं, उस समय उनका वक्षस्थल प्रेम से उमंगित हो शोभा पाने लगा। सभी गोपियाँ उद्धव जी से पूछने लगीं कि श्रीकृष्ण जी ने हमें क्या लिखा है, हमें क्या लिखा है, हमें क्या लिखा है ?

टिप्पणी—गोपियों की उत्सुकता इस कवित्त में दर्शनीय है। इस में वीप्सा और वृत्त्यनुप्रास की अपूर्व छटा तो है ही साथ ही ओज भी भरपूर है।

९—शब्दार्थ—गरिगौ—नष्ट हो गया ; गुमान—गर्व ; कमे—थके।

भावार्थ—गोपियों की दयनीय दशा देखकर उद्धव का गर्व नष्ट हो गया और ज्ञान-गौरव कुण्ठित हो गया। वे अत्यन्त संकुचित हो गये। उनकी आँखों में आँसू भर गया और मुख से वाणी न निकल सकी। उनकी दशा उस समय ऐसी थी मानों वे सिहाये से हों, सूख से गये हों, थक से गये हों, हक्के-बक्के से हो गये हों, शंकित से हो गये हों, कभी भटक से गये हों, भ्रम में पड़ से गये हों, भभरा से गये हों, घबड़ा से गये हों, धीरे-धीरे उनके हृदय में शूल सा चुभ रहा हो, वे (बाजी) हार से गये हों या स्वयं हर से लिये गये हों अथवा वे भूले हुए से कुछ खोज रहे हों।

टिप्पणी—इसमें वृत्यानुप्रास और संकीर्ण-भावोपमा है।

१०—**शब्दार्थ**—समोई—मिली हुई है ; पोई—गूँथी गयी ; भासत—दिखायी देता है ; भ्रम पटल—भ्रम का परदा।

भावार्थ—उद्धव जी गोपियों को उपदेश देते हुए कहते हैं कि सच्चिदानन्द परमात्मा की वह सत्ता जो पंचभूतों में व्याप्त है, वह हम में और तुम में समान रूप से व्याप्त है। समस्त प्राणियों में एक ही अनुपात से पंचभूत अवस्थित किये गये हैं। जिस प्रकार काँच के कई दर्पणों में एक ही रूप अनेक रूपों में दिखायी देता है उसी प्रकार एक ईश्वर अनेक रूपों में प्रतिबिम्बित होता है, माया के प्रपंच के कारण ही उसमें विभिन्नता दृष्टि-गोचर होती है। इसलिए तुम अपने ज्ञानचक्षुओं से भ्रम के इस परदे को उठाकर देखो कि सभी कृष्ण में है, और कृष्ण सभी में व्याप्त हैं।

टिप्पणी—इसमें 'एकोऽहं बहुस्याम नेहनानास्ति किंचन' की पुष्टि की गयी है।

११—**शब्दार्थ**—थहरानी—काँपने लगीं ; थिरानी—स्तम्भित हुई ; बिथकानी—दुखी हुई ; थामि—पकड़कर।

भावार्थ—उद्धव की अकथनीय वार्ता को सुन-सुनकर कोई गोपी काँप उठी, कोई अपने स्थान पर ही स्तम्भित हो गयी ; कोई क्रोधित हो गयी, कोई प्रलाप करने लगी; कोई फूट-फूटकर रोने लगी, कोई व्याकुल हो गयी, कोई बहुत दुखी हो गयी, कोई मारे पसीने के डूब गयी किसी की आँखों में आँसू भर गये, कोई मूर्छित होकर चक्कर खाकर भूमि पर गिर पड़ी, कोई स्याम-स्याम कहकर रोने पीटने लगी और कोई अपने कोमल कलेजे को पकड़े हुए सहमकर सूख सी गयी।

टिप्पणी—इसमें उल्लेख अलङ्कार है।

१२–शब्दार्थ—रंजन—प्रसन्न करते हैं ; नवनीत—मक्खन ; विरद—यश।

भावार्थ—गोपियाँ उद्धव जी से पूछती हैं कि उद्धव जी ! षटरस व्यञ्जन तो सदैव श्रीकृष्ण के चित्त को प्रसन्न करते हैं पर यह तो बताओ कि उन्हें प्रेम के साथ मक्खन भी कहीं मिलता है ? उनके यश का गान तो मथुरा में सभी गाते होंगे पर सच बताओ उन्हें 'लल्ला' कहकर कितने लोग दुलार करते हैं ? वे इन्द्र की भांति रत्नजटित सिंहासन पर बैठकर संसार में चारों ओर अपना शासन चलाते हैं पर क्या वे यमुना तट के पास किसी वट-वृक्ष के नीचे बैठकर अपनी पसली को उठाकर कभी वंशी भी बजाते हैं ?

टिप्पणी—बलिहारी ! श्रीकृष्ण के विषय में प्रेममूर्ति गोपियों का इस प्रकार पूछना उन्हें ही शोभा देता है।

१३–शब्दार्थ—व्रजवारी की—गोपियों की ; वारिधिता—समुद्रता।

सन्दर्भ—उद्धव जी जब बार-बार ब्रह्म का निरूपण करते हैं तो गोपियों को उन पर शंका होती है। अपनी शंका के निवारणार्थ वे उद्धव जी से पूछती हैं—

भावार्थ-गोपियाँ कहती हैं कि उद्धव जी, आप हम व्रजबालाओं की बुद्धि को पलट देने की प्रतिज्ञा-सी किये हुए दिखायी पड़ रहे हैं, सच बताइए कि आप यहाँ कृष्ण के दूत बनकर आये हैं या ब्रह्म के दूत बनकर ? आप प्रेम की रीति को बिल्कुल नहीं जानते हैं (कदाचित इसीलिए) अनाड़ी की-सी नीति अपनाकर (हम लोगों के साथ) आप अन्याय कर रहे हैं।

आप जो श्रीकृष्ण और ब्रह्म को एक बता रहे हैं, उसे हम (सिद्धान्त के रूप में) मान ले रही हैं किन्तु (व्यावहारिक दृष्टि से) एकत्व की भावना अच्छी नहीं लगती। आप चाहे कितना ही प्रयत्न क्यों न करें पर इस से हम पर कुछ भी प्रभाव न पड़ सकेगा क्योंकि एक बूँद अगर समुद्र की समुद्रता मिटाना चाहे तो समुद्र का कुछ भी बन-बिगड़ न सकेगा प्रत्युत बेचारी बूँद ही अपनी बूँदता को खो देगी। (भाव यह कि गोपियों के हृदय में प्रेम का ऐसा सागर उमड़ रहा है जिस पर उद्धव के ज्ञान-बिन्दु का कुछ भी नहीं प्रभाव पड़ सकता।)

टिप्पणी—इसमें वृत्यानुप्रास अलङ्कार है।

१७—**शब्दार्थ**—मुकुर—दर्पण ; निपट—बिल्कुल ; निरूपि चुके—निरूपण कर चुके।

सन्दर्भ—उद्धव जी गोपियों से कृष्ण का प्रेम छोड़ देने के लिए बार-बार आग्रह करते हैं। इस पर गोपियाँ कहती हैं—

भावार्थ—उद्धव जी! आप सुन्दर चिंतामणि को तो धूल में फेंकवा दे रहे हैं और मन रूपी शीशे के दर्पण को यत्न से रखने के लिए कह रहे हैं। (भाव यह कि आप चिंतामणि के सदृश्य कृष्ण-प्रेम को छुड़वाकर काँच के समान मन को यत्न-पूर्वक रक्षित रखने के लिए कह रहे हैं पर इससे क्या लाभ होगा?) हाय! हमारी वियोगाग्नि को शान्त करने के लिए आप वायु पीने (प्राणायाम की साधना करने) की राय दे रहे हैं। (क्या वियोगाग्नि वायु से नहीं बढ़ेगी?) आप ने जिस ब्रह्म को रूप और रस हीन बताया है (आश्चर्य है कि) उसी का ध्यान करने और आनन्द लेने का आप उपदेश दे रहे हैं। इतने बड़े विश्व में जो (ब्रह्म) ढूंढ़ने पर भी नहीं मिल सकता है

उसे आप त्रिकुटी में आँख मूँदकर देखने के लिए कह रहे हैं। (भला यह कैसे सम्भव है ?)

टिप्पणी—गोपियों का तर्क इस कवित्त में द्रष्टव्य है। इस में उद्धव के निर्गुण ब्रह्म और योग-साधना का बड़ी ही युक्ति से खण्डन किया गया है।

१५—शब्दार्थ—जोग (१) योग की उपासना, (२) संयोग वा मिलन ; दरिबे—नष्ट करने के लिए ; बैन-पाहन—बात का पत्थर ।

भावार्थ—गोपियाँ कहती हैं कि उद्धव जी ! यदि आप मथुरा से योग (संयोग) सिखाने के अभिप्राय से यहाँ हैं तो वियोग की ऐसी बातें न कीजिए। यदि हमारे दुखों को नष्ट करने के लिए आप यहाँ पधारे हैं तो हमारे दुख को (ऐसी बातें कहकर) और न बढ़ाइए। हाय ! आप भूलकर भी अपने बचन रूपी पत्थर को न चलाइए क्योंकि इस से हमारा मन रूपी दर्पण टूक-टूक हो जायगा। हे उद्धव जी ! एक मनमोहन ने हमारे हृदय में वास कर हमें उजाड़ दिया है इसलिए आप अनेक मनमोहन मेरे हृदय में न बसाइए (नहीं तो पता नहीं हमारी क्या गति होगी ; आप निर्गुण ब्रह्म की उपासना की बातें हम से न कीजिए।)

टिप्पणी—"एक मनमोहन......बसावो ना" की उक्ति बहुत ही मनोहर और चुभती हुई है। 'जोग' में श्लेष अलंकार है।

१६—शब्दार्थ—प्रतिबंधहिं—रोक ; वारि चुकीं—निछावर कर चुकीं।

भावार्थ—गोपियाँ कहती हैं कि उद्धव जी ! जब हमने कुल की लाज और मर्यादा के प्रतिबंध को तोड़ तोड़ दिया तो फिर व्रत और संयम-नियम के पींजड़े में कौन पड़ने जाय। जब हमने हठात् सुधि और बुद्धि के भार को (कृष्ण-प्रेम की नौका में) लादकर उसे किनारे से दूर कर दिया तो फिर (निर्गुण ब्रह्म के) गुण और गौरव का लङ्गर लगाने कौन जाय ? हमने तो सीधी बात सोच रक्खी है कि अब योग के समुद्र में साँस रोककर कौन डूबने जाय (क्योंकि यह व्यर्थ ही है।) अच्छा, आप ही बताइए, जब हमने मोहन-लला पर अपने मन रूपी माणिक्य को निछावर कर दिया तो आपकी मुक्ति रूपी मोती का लोभ कैसे करें ?

टिप्पणी—सच है अपने मन रूपी माणिक्य को कृष्ण पर लुटा देने वाली गोपियाँ मुक्ति रूपी मोती की परवाह क्यों करेंगी।

१७—शब्दार्थ—लखात—दिखाई देते हैं ; कहा—क्या ; उतै—उधर ; अनंग—कामदेव।

भावार्थ—गोपियाँ उद्धव जी से कहती हैं कि उद्धव जी ! (श्रीकृष्ण से प्रेम कर चुकने पर) हमें तो सभी रंग और रूप के बिना दिखाई पड़ते हैं फिर इस प्रकार के एक निर्गुण का ध्यान और करके हम किस प्रकार धैर्य धारण करेंगी ? हम सब श्रीकृष्ण की विरहाग्नि में पहले से ही जल रही हैं तो फिर अब ब्रह्म ज्योति को जलाकर हम क्या करेंगी ? उद्धव जी ! आप अपने अव्यक्त और निर्गुण ब्रह्म को उधर ही रक्खें भला इन से मेरे कठिन काम कैसे पूरे हो सकेंगे ? एक अङ्ग-रहित (काम-देव) की आराधना करके हमारी समस्त कामनायें पूर्ण हो गयीं फिर अन्य अंग-रहित (निर्गुण ब्रह्म) की आराधना करके हम क्या करेंगी ?

टिप्पणी—'एक ही अनंग...अराधि करिहैं कहा' में अनूठा व्यंग है !

१८—शब्दार्थ—कर—हाथ ; पद—पैर ; वदन—मुख ।

भावार्थ—गोपियाँ उद्धव जी से पूछती हैं कि उद्धव जी ! बताइए, आपका ब्रह्म बिना हाथों के हमारी गाय कैसे दुहेगा ; बिना पैरों के कैसे नाच और थिरक कर हमें प्रसन्न करेगा, बिना मुख के कैसे मक्खन खायेगा, कैसे वंशी बजायेगा और कैसे गोप-बालों से गीत गवायेगा तथा अपनी आँखों से देखे और कानों से सुने बिना भोले ब्रजवासियों की विपत्ति का निवारण वह कैसे करेगा । आपका यह अदृश्य और निर्गुण ब्रह्म भला हमारे किस काम आयेगा ?

टिप्पणी—प्रस्तुत कवित्त में गोपियों ने अपना यह आशय व्यक्त किया है कि (सगुण ब्रह्म) श्रीकृष्ण ही सब प्रकार से हमारा कल्याण कर सकते हैं, निर्गुण से हमारा कोई काम पूरा न हो सकेगा ।

१९—शब्दार्थ—ढेरी—राशि ; चेरी—दासी ।

भावार्थ—गोपियाँ उद्धव जी से कहती हैं कि उद्धव जी ! हमारे कौन जोग रमाने जाय और कौन समाधि लगाने जाय । हम दुख और सुख की साधना से एकदम निवृत्त हो चुकी हैं फिर जाने क्यों आप यहाँ आकर प्राणायाम साधने की बातें कहते हैं । हमें यमराज का कोई डर नहीं है क्योंकि हम उनकी कुछ भी जमा नहीं धरातीं और न इन्द्र की सम्पत्ति का ही हमें कुछ लोभ है । हम ब्रह्म के माया की भी चेरी नहीं हैं । हम आप से सीधे कह दे रही हैं कि हम केवल श्रीकृष्ण जी की अनन्य दासी हैं ।

टिप्पणी—गोपियों का सात्विक अमर्ष इस कवित्त में बड़ी खूबी के साथ दिखाया गया है।

२०—**शब्दार्थ**—जुहारि—प्रणाम करना, आवाहन करना ; सारन—शान्ति करना।

भावार्थ—गोपियाँ कहती हैं कि उद्धव जी ! हम तो उसी (श्रीकृष्ण) के सुन्दर मुख की किरणों (आभा) को सदैव चाहती हैं इसलिए आप की ब्रह्म-ज्योति हमारे लिए व्यर्थ है। बताइए, जो चन्द्रमा की (शीतल किरणों की) उपासना करते हैं वे सूर्य की प्रचण्ड किरणों का आवाहन कर (व्यर्थ में) क्यों जलें ? विधाता ने हमारे लिये जो संयोग जुटाया है, हम उसका उपभोग कर रही हैं ! अपने इस दुख को नष्ट करने के लिए योग की साधना करने से क्या लाभ होगा ? (हमें इस दुःसह दुख से न डरना चाहिए) क्योंकि जब ब्रजचंद्र श्रीकृष्ण के लिए हमने अपने चित्त को चकोर बनाया है तो फिर विरह की चिनगारियों से डर कर क्या होगा ?

टिप्पणी—गोपियों ने इस कवित्त में श्रीकृष्ण के प्रति अपनी अनन्यता प्रदर्शित की है।

२१—**शब्दार्थ**—सीरौ—शीतल ; बातहिं—बात करके वायु करके।

भावार्थ—गोपियाँ कहती हैं कि उद्धव जी ! हम अपने मन-मन्दिर में रोमाञ्च रूपी खस की टट्टी लगाये हुई हैं। इसे अश्रु-जल से धोया करती हैं और वार्ता रूपी शीतल वायु चला-कर इसे खूब ठंडा बनाये रखती हैं। हम इस (मन-मन्दिर) में विरहाग्नि की विषम-उह्लासों को नहीं आने देतीं। अब आपके कहने पर ब्रह्म-ज्योति प्रज्वलित कर इस मन-मन्दिर को कैसे

तपायें। हाय ! इस मन-मन्दिर में बसे हुए नंद के सुकोमल कुमार श्रीकृष्ण के साथ विश्वासघात कर उन्हें कैसे निर्वासित करें ?

टिप्पणी—गोपियाँ किसी भी दशा में उद्धव के कहने पर अपने प्यारे श्रीकृष्ण के साथ विश्वासघात करने को तैयार नहीं हैं। इनकी यह पूत-भावना अत्यन्त सरल, स्वाभाविक और शिक्षाप्रद है।

२२-शब्दार्थ—गिरि शृंगनि—पर्वत की चोटियों; रसना—जिह्वा; बिहाइ—छोड़कर।

भावार्थ—गोपियाँ कहती हैं कि उद्धव जी ! आप अपने ज्ञान रूपी सूर्य को पर्वत की चोटियों पर प्रकाशित कीजिए, यहाँ व्रज में आप की कुछ भी कला न चलेगी। आप यहाँ पर अपने ज्ञान रूपी सूर्य को चाहे जितना चमत्कृत कीजिए पर इसके ताप से हमारा प्रेम रूपी वृक्ष न सूख सकेगा। इसकी डालियाँ और पत्ते तृण के बराबर भी नष्ट नहीं होंगे। हमारी जिह्वा सुन्दर चातकी बनी हुई है इसलिए प्रियतम श्रीकृष्ण को छोड़कर यह और रट न रटेंगी। आप लोट-पोट कर (नंगई कर) व्यर्थ में ही क्यों बातों का बवंडर खड़ा कर रहे हैं। आपके इस उपाय से घनश्याम मेरे हृदय से नहीं हटेंगे।

टिप्पणी—इसमें रूपक अलंकार है।

२३-शब्दार्थ—दरैंगी—मलेंगी; भार—लपट।

भावार्थ—गोपियाँ कहती हैं कि हम नियम-संयम और व्रत का अखण्ड आसन लगायेंगी तथा जहाँ तक हमारे लिये सम्भव होगा, श्वासों का पान (प्राणायाम की साधना) करेंगी। हम मृगछाला धारण करेंगी और शरीर में इतनी धूल मलेंगी

कि शरीर तक छिल जायेगा। यही नहीं, हम पंचाग्नि की ज्वाला में भी तपेंगी जिसे देखकर आपका कलेजा दहल जायगा। आपके कहने पर हम सभी प्रकार की आपत्तियाँ सहेंगी पर इतना आप अवश्य बतला दीजिये कि क्या ऐसा करने पर हमें कन्हैया जी प्राप्त हो जायँगे।

टिप्पणी—प्रस्तुत कवित्त में गोपियों ने कहा है कि वह कठोर व्रत और योग-साधना आदि के लिए भी तैयार हैं किन्तु तभी, जब कि उन्हें यह विश्वास हो जाय कि श्रीकृष्ण जी ऐसा करने पर अवश्य मिल जायँगे।

२४—शब्दार्थ—विधान—नियम ; ललकि—उत्साहित होकर ; व्रजबाला—गोपियाँ।

भावार्थ—गोपियाँ कहती हैं कि उद्धव जी ! हम योग के जटिल नियमों की साधना कर लेंगी और कमर में मृगछाला भी बाँध लेंगी। हम शरीर में विभूति मल लेंगी तथा घोर ग्रीष्म और शीत को भी बड़े उत्साह के साथ झेल लेंगी। इसके आगे गोपियाँ कहती हैं कि उद्धव जी ! आप ने कथनीय और अकथनीय सभी बातों को कह डाला है। अब आज्ञा हो तो हम गोपियाँ भी कुछ कहें। कृपया बताइए कि यदि कान्ह हमें न मिले, तो आपके ब्रह्म को प्राप्त कर हम क्या फल पायेंगी।

२५—शब्दार्थ—झमेला—प्रपञ्च ; रेल-रेला—भरमार।

भावार्थ—गोपियाँ कहती हैं कि उद्धव जी ! पहले तो श्रीकृष्ण जी ने हमें बहकाकर प्रेम का पाठ पढ़ाया और हमारे तन-मन को विरहाग्नि का पात्र बनाया। इसके पश्चात् आप उनका स्थान ग्रहण कर श्वास के आरोह और अवरोह का प्रपञ्च प्रकट कर रहे हैं। उद्धव जी ! आप जैसे सुन्दर उपदेशकों की व्रज में

बहुत भरमार है। वे (हमारे प्रथम उपदेशक कृष्ण जी) तो कूबरी का योग (संयोग) पाकर पूर्ण योगी हो गये। बताइए, आप उनके उनके गुरु हैं या शिष्य ?

टिप्पणी—वे तौ भये...चेला हैं—में गोपियों ने श्रीकृष्ण जी और उद्धव जी दोनों की गुरु-चेला का सम्बन्ध बताकर खूब चुटकी ली है ! बलिहारी !!

२६—शब्दार्थ—कनूका—कण ; छिगुनी—उँगली ; पानि—हाथ ; परसि—छूकर।

भावार्थ—गोपियाँ कहती हैं कि यह (प्रेमाचल) द्रोण पर्वत का टूटा हुआ, किनका नहीं है जिसे श्रीकृष्ण जी ने उठाकर पृथ्वी पर कुशलता का छत्र छवा दिया है। यह वधू कूबरी का कूबर भी नहीं है जिसको थोड़ा-सा स्पर्श कर कृष्ण ने नष्ट कर दिया है। यह तो कठोर व्रत धारण करने वाली गोपियों का प्रेम-पर्वत है, जिस के भावों के भार से श्रीकृष्ण जी स्वयं संकुचित हो गये हैं। ऐसे प्रेम-पर्वत को बातों से उड़ा देने के लिए सुजान कान्ह ने अजान बनकर न जाने क्यों आपको यहाँ भेजा है।

टिप्पणी—प्रस्तुत कवित्त में गोपियों ने उद्धव से कहा है कि उनका प्रेम-पर्वत ज्ञान की कोरी बातों से उड़ नहीं सकता है।

२७—शब्दार्थ—अँदेसो—शंका ; वंचक—ठग ; वराग —विमुख।

भावार्थ—गोपियाँ कहती हैं कि उद्धव जी ! आप सुगठित और सुन्दर शरीर वाले, सलोने सुजान श्रीकृष्ण के दूत होकर यहाँ आये हैं किन्तु आपकी बात से हमें ऐसी शंका होती है कि आपका संदेश प्रेम का प्रण धारण करने वाले श्रीकृष्ण जी का संदेश नहीं है, यह तो एकदम मनगढ़ंत जा पड़ता है। आप

अपने ज्ञान गुरुता और गौरव के गुमान में भरकर फूले फिर रहे हैं और ठगी के कार्य से तनिक भी विमुख नहीं हो रहे हैं। हमारी समझ में तो यही आता है कि आप दुष्टा कुबरी के भेजे आये हैं और रसिक शिरोमणि कृष्ण का नाम व्यर्थ में बदनाम कर रहे हैं।

टिप्पणी—कुबरी के प्रति गोपियों की भी डाह यहाँ दर्शनीय है।

२८—**शब्दार्थ**—छतीसे—धूर्त ; छलिया—छल करने वाले ; बीर बावन—वीर वामन भगवान जिन्होंने बलि को छला था ; साढ़े बाइस होना—अधिक ठहरना ; छटें-आठें परयौ—पीछे पड़ा है ; तीन-पांच ह्वै जैहे—नष्ट हो जायगी।

भावार्थ—गोपियाँ कहती हैं कि उद्धव जी ! तुम उस धूर्त और कपटी के भेजे यहाँ ब्रज में आये हो। हमें पूर्ण विश्वास होता है कि तुम वीर वामन भगवान के अंशी हो। तुम जाँच होने या तौले जाने पर वामन से अधिक ही ठहरोगे। इस समय प्रेम और जोग का मुकाबिला है जिस में जोग प्रेम के पीछे पड़ा हुआ है किन्तु इससे क्या होता है क्योंकि एक ही वस्तु हीरा और काँच नहीं हो सकती। तुम बहक कर तीनों गुणों और पाँचों तत्वों की जो तीन-तेरह करने वाली (विलगावे की) बात कर रहे हो यह आप से आप नष्ट हो जायगी। इसका हम गोपियों पर कुछ भी प्रभाव न पड़ सकेगा।

टिप्पणी—प्रस्तुत कवित्त में रत्नाकर जी ने गिनती वाले मुहाविरों का प्रयोग बड़े कौशल से किया है। इस प्रकार के मुहाविरों का इतना सफल प्रयोग अन्यत्र दुर्लभ है।

२९—**शब्दार्थ**—जोग—सामर्थ्य ; बिलग—अलग ; वेगि —शीघ्र ही।

भावार्थ—गोपियाँ कहती हैं कि उद्धव जी ! आप हमारे हृदय से श्रीकृष्ण को निकालना चाहते हैं किन्तु आपके योग-मंत्रों में इतनो सामर्थ्य नहीं है कि वे श्रीकृष्ण से हमारा बिलगाव कर सकें। हम पुकार कर कह रही हैं कि इस प्रकार से बिलगाव करने में अत्यन्त अनीति होगी इसलिए आप शीघ्र ही कृष्ण को लाइए और हमारी छाती से लगा दीजिए फिर सचेत होकर श्रीकृष्ण से बिलगाव करने का उपाय सोचिए क्योंकि प्राणाधार कृष्ण ज्यों-ज्यों हम से दूर होते जाते हैं त्यों-त्यों वे हमारे मन-रूपी दर्पण में धँसे चले जाते हैं।

टिप्पणी—दूर खड़े हुए व्यक्ति की छाया दर्पण में उस व्यक्ति की अपेक्षा गहरी गड़ी हुई प्रतीत होती है जो उस के एकदम निकट खड़ा है। इस कवित्त में इसी दृश्य को साकार रूप दिया गया है।

३०—शब्दार्थ—भाजन—पात्र ; तपन—गर्मी ; तपाक करि—आवेश में आकर।

भावार्थ—गोपियाँ कहती हैं कि उद्धव जी ! देखना, कहीं भगवान् के स्वरूप के पात्र, राधिका के नेत्र तप्त न हो जायें और उनसे ब्रह्मद्रव (गंगाजल) बड़े तपाक से निकलकर समस्त ब्रह्माण्ड में उपद्रव न मचा दे एवं शंकर सहित कैलाश का गर्व चूर्ण करके उसे पाताल में न धँसा दे इसलिए इस बात की सतर्कता रखियेगा कि बरसाने में आपकी यह योग-गाथा फैलने न पावे और राधिका के कानों में भनक न पड़ने पावे।

टिप्पणी—इसमें रूपक अलंकार के सहारे राधिका का वियोग वर्णित है। इसमें अतिशयोक्ति तो अपनी पराकाष्ठा पर पहुँची जान पड़ती है।

३१—शब्दार्थ—आतुर न होहु—घबड़ाओ नहीं ; पुरंदर—इन्द्र ; नातरु—नहीं तो ।

भावार्थ—गोपियाँ कहती हैं कि उद्धव जी ! दीपमालिका का उत्सव अब अत्यन्त निकट है इसलिए आप अधिक आतुर न हों । यदि पहले की भांति इन्द्र की कृपा-दृष्टि (कोप-दृष्टि) ब्रज पर फिर जायगी तो आप जो ब्रह्मज्ञान द्वारा यह कहते हैं कि मनुष्य ब्रह्म हो सकता है, इसकी सत्यता प्रकट हो जायगी । यदि गिरिधारी ने पूर्ववत् ब्रज का उद्धार कर दिया तब तो किसी न किसी प्रकार आपकी बात रह जायगी अन्यथा हमारी विरह व्याधि से तुम्हारा सारा ब्रह्मज्ञान बह जायगा ।

टिप्पणी—यहाँ कृष्ण के गोवर्द्धन धारण वाली घटना का उल्लेख किया गया है ।

३२—शब्दार्थ—विकसित—खिले हुए ; वसंतिकावली—पीतता ; पिक—कोयल ; बतास—वायु ।

भावार्थ—गोपियाँ कहती हैं कि उद्धव जी ! अब विधाता और कामदेव का कला में कुछ भी अन्तर नहीं रह गया है क्योंकि बरसाने में नित्य-प्रति बसन्त ऋतु छायी रहती है । (कृष्ण के विरह में) गोपियों का जो शरीर पीला हुआ है यही मानों वन की खिला हुई वसंतिकावली है । गोपियों के झुण्ड के झुण्ड जो विक्षिप्त से हो रहे है, यही मानों सुन्दर बौरों से युक्त आम के वृक्षों की वाटिका है । गोपियों में परस्पर जो चवाव चलता है । यही मानों कोयल की पुकार है । गोपियां उच्छ्‌वास द्वारा अपने हृदय की जो ज्वाला निकाल रही हैं यह ऐसी प्रतीत होती है मानों बसन्त की वायु लगने से वृक्षों के पत्ते झड़ रहे हों ।

टिप्पणी—इसमें साङ्ग रूपक अलङ्कार है।

३३-**शब्दार्थ**—हाल—समाचार ; बिहाल—व्याकुल ; अवगाहि—लाकर।

भावार्थ—गोपियाँ कहती हैं कि उद्धव जी ! हम सभी व्रजबालाएँ अत्यन्त व्याकुल पड़ी हुई हैं, आप हमारा कुशल-समाचार क्या पूछ रहे हैं। आप यहाँ दो दिन ठहरकर और हमारी दशा अपनी आँखों से देखकर मथुरा वापस जायँ। हम सब जिस रोग में ग्रस्त हुई हैं वह बहुत कठिन है और कहने योग्य नहीं है ; इसलिए हमारे संदेश को आप साधारण न समझियेगा। यदि प्राणनाथ ! आप से अवसर मिलने पर हमारी दशा पूछें तो उन से कुछ न कहिएगा प्रत्युत जो दशा आपने यहाँ देखी है, उसी को प्रकट कर दीजिएगा। आप आह भरते हुए कराहिएगा तथा आँखों में आँसू भरकर कुछ कहने का भाव प्रकट कीजिएगा और फिर हिचकी लेकर चुप रह जाइएगा।

टिप्पणी—"आह कै....रहि जाइयौ" में देखिए कितना हृदयस्पर्शी भाव भरा हुआ है।

३४-**शब्दार्थ**—भौन—घर ; जनि—मत ; गाम—गाँव।

भावार्थ—उद्धव की विदाई के समय सभी गोपियाँ हा-हा खाकर कहती हैं कि उद्धव जी ! आप व्रज के प्रपञ्चों को देखकर लेशमात्र भी न पिघलियेगा और नन्द-यशोदा, गोप-गोपी तथा गायों की तथा वृषभानु के घर की भी कुछ चर्चा न कीजिएगा। यहाँ की दयनीय दशा सुनकर श्रीकृष्ण के नेत्रों में आँसू आ जायगा और मुख में मलिनता छा जायगी इसलिए व्रज के दुख की आप साँस तक न लीजिएग। आप केवल हमें सब का नाँव-गाँव बताकर उनसे हमारी 'राम-राम' कह दीजिएगा।

टिप्पणी—बलिहारी ! प्रेम हो तो ऐसा हो। देखिए, ब्रज की दयनीय दशा को प्यारे श्रीकृष्ण अपने कानों से सुनकर दुःखी हों, यह गोपियों को सह्य नहीं है। अतएव वे उद्धव को मना करती हैं कि आप ब्रज की दशा उनसे न बताइएगा। केवल हमारा नाम और ग्राम बताकर उनसे राम-राम कह दीजिएगा। रसिक शिरोमणि हम लोगों के अभिप्राय के स्वयम् जान लेंगे।

३५—शब्दार्थ—नचाए—नीचा किये हुए ; जतन—यत्न ; नतन—झुके हुए।

भावार्थ—कविवर रत्नाकर जी कहते हैं कि अब उद्धव जी सभी प्रकार के सुखों को प्राप्त करने का सीधा सा उपाय मालूम कर और अपने गुण के गौरव को खोकर एवं अपने गर्व रूपी गढ़ की पूर्ण पराजय लेकर वे अपने वैराग्य की तुमड़ी में प्रेम रस भरकर और ज्ञान की गुदड़ी में अनुराग का दिव्य रत्न लेकर दीनता और व्याकुलता के बोझ से बोझिल होते हुए, हृदय में पीड़ा और कसक लिए हुए, आँखों को नीची किये हुए व उन से आँसू भरे हुए तथा लज्जित होते हुए ब्रज से लौटे।

टिप्पणी—गोपियों के प्रेम से पराजित ज्ञानी उद्धव की दशा का इसमें सुन्दर चित्र खींचा गया है।

३६—शब्दार्थ—पग—पैर ; नवनीत—मक्खन।

भावार्थ—कविवर रत्नाकर जी कहते हैं कि उद्धव जी ! जब ब्रज से विदा होकर चलने लगे तो प्रेम-मद में मस्त होने के कारण उनके पैर कहीं के कहीं पड़ते थे और उनके शरीर और नेत्रों में शिथिलता दिखायी देती थी। वे चकित होते हुए इस प्रकार चल रहे थे मानों किसी भूली हुई बात का वे स्मरण कर

रहे हों। इस समय उनके एक हाथ में यशोदा का दिया हुआ मक्खन और दूसरे हाथ में राधिका की भेजी हुई वंशी सुशोभित हो रही थी। उदार उद्धव जी आँसुओं के अधिक उमड़ने पर बाँहों से अपने आँसू पोंछ लिया करते थे पर किसी भी दशा में इन वस्तुओं को पृथ्वी पर नहीं रखते थे प्रत्युत अत्यन्त आदरपूर्वक हाथों में लिए रहते थे।

टिप्पणी—ऐसी उद्धव की महान श्रद्धा इस कवित्त में दर्शनीय है।

३७-शब्दार्थ—रावरे—आप के; हुते—थे; हिरानी—खो गयी; बिलानी—विलीन हो गयी।

भावार्थ—उद्धव श्रीकृष्ण जी से कहते हैं कि ज्ञान, गुण और गौरव का गहरा उद्गार लेकर हम आपके द्वारा व्रज में योग की शिक्षा देने के लिए भेजे गये थे पर न जाने किस दारुण दशा में पड़कर हमारी सारी चतुराई नष्ट हो गयी। पता नहीं वह गोपियों के उच्छ्वासों में पड़कर उड़ गयी या उनकी आँसुओं में विलीन हो गयी अथवा दुख के दरेरों में पड़कर चूर-चूर हो गयी या विरहाग्नि की ज्वाला में पड़कर राख हो गयी।

टिप्पणी—इसमें सन्देह अलङ्कार है।

३८—शब्दार्थ—अमोल—अमूल्य; ननक—थोड़ा सा; पौरि—द्वार।

भावार्थ—उद्धव श्रीकृष्ण जी से कहते हैं कि योग का सूक्ष्म और अमूल्य संदेश लेकर मैं आपके द्वारा व्रजभूमि में भेजा गया था किन्तु वहाँ प्रेम-धन के समक्ष इसका कुछ भी मूल्य न ठहरा। वृषभानु के द्वार पर पहुँचते ही मेरी बुद्धि नष्ट हो गयी वहाँ से लौटकर मैं स्थान-स्थान पर पुकार

लगाता रहा किन्तु सारा प्रयत्न व्यर्थ रहा। मैं वहाँ पर अपनी वस्तु का मूल्य आँकता ही रह गया पर कुछ भी निश्चित न कर सका। इसके फेर में पड़कर मैं बहुत परेशान हो गया हूँ और निराश होकर वापस आ गया हूँ। अब आप ही इस सूक्ष्म और अमूल्य योग का निरीक्षण कीजिए। ब्रज में हमारा सारा गर्व ज्ञान सहित गाँठ से गिर गया उसको खोजते हुए अंग-प्रत्यंग में हम ब्रज की धूल लपेट लाये हैं।

टिप्पणी—ज्ञान रूपी रत्न को खो चुकने पर उद्धव के पास बचा ही क्या था, उस समय उनके लिए यह सर्वथा उचित था कि वे प्रेम की धूरि अपने अंग में लपेट लाते।

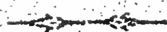
३६—शब्दार्थ—कुटीर—कुटिया ; स्रौन—कान ; लेखि—समझकर।

भावार्थ—उद्धव श्रीकृष्ण जी से कहते हैं कि यदि मेरे हृदय में आपको सचेत करने की उमंग न होती तो ब्रज-प्रदेश को छोड़कर मैं इधर कदापि पैर न रखता। मैं ब्रज में यमुना के सुन्दर तट पर कहीं कुटिया छाकर रहता और यमुना की उस रेती से (जिस पर आपने गोपियों के साथ केलि किया था) कदापि न हटता। मैं (आपकी और गोपियों की) गूढ़ प्रेमगाथा को छोड़कर अपने श्रवण और जिह्वा में अन्य रस न भरता। मेरे ब्रज में रहते हुए यदि गोपियों और ग्वाल-बालों के आँसू निकलकर प्रलय के आने की सूचना देते तो भी मैं डरकर ब्रज से न हटता।

टिप्पणी—इस कवित्त में उद्धव का ब्रजभूमि-प्रेम दिखाया गया है।

—:o::o::o:—

६—सत्यनारायण



सत्यनारायण के काव्य की पृष्ठभूमि—द्विवेदी काल में खड़ी बोली की कर्कश ध्वनि के बीच बाबू जगन्नाथदास 'रत्नाकर' की भांति ब्रजकोकिल पंडित सत्यनारायण कविरत्न की मधुर कूक सुनायी देती रही। ये ब्रजभूमि, ब्रजभाषा और ब्रजेश के अनन्य भक्त थे। इनका स्वभाव अत्यन्त कोमल था। स्वर्गीय पंडित पद्मसिंह शर्मा ने इनके विषय में लिखा है—"सत्यनारायण स्वाभाविक सादगी के पुतले थे, गुदड़ी में छिपे लाल थे। उनकी भोली-भाली सूरत, ग्रामीण वेषभूषा, बोलचाल में ठेठ ब्रजभाषा देख-सुनकर अनुमान तक न हो सकता था कि इस चोले में इतने अ र ण छिपे हैं।" सत्यनारायण जी छात्रावस्था से ही कविता करने लगे थे। इनके कविता-पाठ का ढंग अत्यन्त मधुर और आकर्षक था, लोग सुनकर मुग्ध हो जाते थे। इनका सम र्ण जीवन दुखमय रहा। जन्म होते ही पिता स्वर्गस्थ हुए, माता को गृह विहीन होकर भटकना पड़ा, फिर कुछ दिन के पश्चात् वे भी स्वर्ग सिधारीं, श्वास की बीमारी के कारण स्वास्थ्य भी प्रायः धोखा देता रहा, अन्त में गार्हस्थ्य-जीवन तो इतना अशान्तमय रहा कि इन्हें अल्पावस्था में ही इस लोक को छोड़ना पड़ा! इनके काव्य में इनके दुखी जीवन की अमिट छाप लगी हुई है इसे पढ़कर पाठक स्तब्ध हो जाते हैं।

वर्ण्य-विषय—पंडित सत्यनारायण जी ने सर्वप्रथम मैकाले के खण्ड-काव्य 'होरेशस' का पद्यबद्ध अनुवाद किया।

इसके पश्चात् भवभूति के 'उत्तर रामचरित' और 'मालती-माधव' का अनुवाद किया। इन दोनों ग्रन्थों में श्लोकों के स्थान पर जो सवैये रक्खे गये हैं वे अत्यन्त उत्कृष्ट हैं। इनकी उत्कृष्ट रचनाओं का संग्रह 'हृदय-तरंग' इनके जीवन-काल में ही छप रहा था किन्तु दो फार्म छपने के पश्चात् मित्रों की कृपा से सारी पाण्डुलिपि गुम हो गयी, जीवन के अन्तिम क्षण तक ये अपनी गुम हुई रचनाओं के लिए तड़पते रहे! स्वर्गस्थ होने के पश्चात् पंडित बनारसीदास जी चतुर्वेदी के प्रयत्न से इनकी बची-खुची कविताओं का संग्रह 'हृदय-तरङ्ग' के नाम से नागरी प्रचारिणी सभा आगरा ने प्रकाशित किया।

समीक्षा—पंडित सत्यनारायण कविरत्न के काव्य में हृदय-तत्व की प्रधानता है। उनका 'हृदय-तरङ्ग' तो करुण रस का सागर ही है। इस में 'प्रकृति-दर्पण', 'प्रेम-कली' और 'भ्रमर-दूत' की रचनाएँ अत्यन्त उत्कृष्ट हैं। इन्होंने अष्टछाप के कृष्ण-भक्त कवियों के ढङ्ग पर बहुत से पद लिखे हैं, इनमें कृष्ण-भक्ति के साथ-साथ स्वदेश-प्रेम की व्यंजना भी पायी जाती है। इन्होंने भारतेन्दु जी की भाँति चलती ब्रजभाषा में मधुर सवैयों की भी रचना की है। ब्रज के अतीत का गौरव इन्हें सदा अपनी ओर खींचता रहा है और ब्रज की वर्तमान दशा के प्रति अवसाद और खिन्नता की भावना भरता रहा। देश की दुरवस्था का राजनीतिक कारण जानते हुए भी वे उसे अदृष्ट का प्रकोप समझते रहे और परिस्थिति को सँभालने के लिए करुणानिधि-केशव की पुकार करते रहे। इनकी 'भारत-विलाप' कविता बड़ी मर्मस्पर्शिनी और हृदयद्रावक है। 'प्रकृति-दर्पण' में इन्होंने प्रकृति का मनोहर वर्णन किया है।

ये शीघ्र ही सुन्दर कविता बना सकते थे। अपने इस

अलौकिक गुण के कारण मित्रों के पत्रों का उत्तर भी कविता में दिया करते थे। उदाहरणार्थ स्वर्गीय पंडित पद्मसिंह शर्मा को भेजा हुआ इनका एक पत्र उद्धृत किया जाता है इस में इन्होंने अपने स्वभाव को भी व्यक्त किया है—

आई तव पाती।
नहिं बिसरायो अजहुँ मोंहि, यह जानि सिरानी छाती॥
बड़े भाग है जो इतने में, सोचि कछू सुधि लीनी।
दरस पिपासाकुल को, आधी जीवन आशा दीनी॥
जो मोसों हँसि मिले, होत मैं तासु निरंतर चेरो।
बस गुन ही गुन निरखत तिह मधि, सरल प्रकृति को प्रेरो॥
यह स्वभाव को रोग जानिये, मेरो बस कछु नाहीं।
नित नव विकल रहत याही सों, सहृदय बिछुरन माहीं॥
सदा दारु योषित सम बेबस आज्ञा मुदित प्रमानै।
कोरो सत्य ग्राम को वासी, कहा "तकल्लुफ" जानै॥

ये बड़े ही उत्साही व्यक्ति थे। आगरे में जब किसी प्रतिष्ठित नेता का आगमन होता या लोक-हित सम्बन्धी कार्यों का कोई आयोजन होता तो ये उसमें अपनी कविता सुनाकर लोगों को आनन्द दिया करते थे। इनकी इस प्रकार की रचनाएँ बहुत बड़ी संख्या में हैं। इनकी सब से प्रसिद्ध रचना 'भ्रमर दूत' है। खेद है कि इसे अपूर्ण छोड़कर ये लोकान्तरित हो गये! इसकी रचना नन्ददास के 'भवँरगीत' के ढङ्ग पर हुई है। इसमें श्रीकृष्ण के द्वारिका-प्रवासी होने पर उनके पास भ्रमरदूत द्वारा माता यशोदा के संदेश भेजने का वर्णन है। सत्यनारायण जी ने इस रचना में प्रकृति-वर्णन, वात्सल्य प्रेम, वर्तमान नारी समाज की अधोगति, नारी शिक्षा का महत्व, जननी और जन्म-भूमि का प्रेम, देश की दुर्दशा, समाज की दुर्बलता,

जातीय ज्योति की क्षीणता और प्रवासियों की दयनीय परिस्थिति आदि अनेक सामयिक विषयों का कवि ने आभास दिया है। यशोदा का विलाप पढ़कर ऐसा प्रतीत होता है मानों स्वयं भारतमाता अपनी वर्तमान दयनीय दशा से व्याकुल और खिन्न होकर विलाप कर रही हैं। माता यशोदा के विलाप के एक-एक शब्द से स्वदेश प्रेम और कृष्ण भक्ति चुई पड़ रही है। वास्तव में सत्यनारायण जी की यही एक प्रौढ़ रचना उन्हें उच्चकोटि के कवियों की श्रेणी में बिठा देने के लिए पर्याप्त है। प्रसाद और माधुर्य गुण से समन्वित ऐसी स्वाभाविक एवं प्रभावशाली रचना जिस में सामयिकता का सामंजस्य किया गया हो, ब्रजभाषा साहित्य में मिलना दुर्लभ है।

पंडित सत्यनारायण जी ने वर्तमान परिस्थितियों का सामञ्जस्य करते हुए अपने 'भ्रमरदूत' में लिखा है—

पहले को सो अब न तिहारो यह वृन्दावन।
याके चारों ओर भये बहु विधि परिवर्तन॥
बने खेत चौरस नये, काटि घने बन पुंज।
देखन को बस रहि गये निधुवन सेवा कुंज॥
कहाँ चरिहैं गऊँ॥
पहली सी नहिं जमुना हूँ में अब गहराई।
जल को थल, अरु थल को जल अब परत लखाई॥
कालीदह को ठौर जहँ चमकत उज्ज्वल रेत।
काछी माली करत तहँ, अपने-अपने खेत॥
घिरे झाऊनि सों॥

इस पर आक्षेप किया जा सकता है कि क्या श्रीकृष्ण के द्वारिका-प्रवास करने और यशोदा के संदेश भेजने तक में इतना परिवर्तन हो सकता है कि कालीदह के स्थान पर उज्ज्वल रेत

चमकने लगा और वहाँ काछी माली खेत करने लगे। यह आक्षेप अकाट्य है किन्तु यदि कवि की दृष्टि को ध्यान में रखकर देखा जाय तो इसकी सार्थकता प्रमाणित हो जाती है। पढ़ते समय यह खटकने की अपेक्षा आनन्द देता है और व्रजभूमि का नया मानचित्र नेत्रों के सामने उपस्थित कर देता है।

भाषा और शैली—भारतेन्दु जी की भांति इन्होंने जीती-जागती व्रजभाषा का प्रयोग किया है। भाषा को शब्दालङ्कारों से अलंकृत किया गया है। नन्ददास जी की भांति कोमल कान्त पदावली का भी व्यवहार हुआ है। भाषा में प्रवाह की कमी कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं होती। व्रज के ठेठ शब्दों के कुछ प्रयोग ऐसे मिलते हैं जो परम्परागत काव्य-भाषा में नहीं पाये जाते। मुहाविरों और लोकोक्तियों का व्यवहार सर्वत्र मिलता है।

—:o:o::o::o:o:—

९—सत्यनारायण

—::❀::—

१—शब्दार्थ—घनस्याम (१. कृष्ण मेघ २. श्रीकृष्ण)

भावार्थ—हे सरल स्वभाव वाले सजन घनश्याम ! आप अब आनन्द की वृष्टि कर दें जिससे व्रजभाषा रूपी लता हरी-भरी होकर लहराने लगे ।

२—शब्दार्थ—मनभावन—मनोहर; जलधर—बादल ; परसत—स्पर्श करती है ; विरमत—भ्रमण करते हैं ;

भावार्थ—यद्यपि भारत की सुन्दर पवित्र भूमि लोक-प्रसिद्ध है पर इसमें मनोहर व्रजमण्डल आनन्द से परिपूर्ण कमण्डल की भांति सुशोभित है। इस परम पुण्य-स्थली में में विधाता ने प्रकृति की छटा बिखेर दी है जिसकी सुन्दरता से देवता, मुनि और मनुष्य सभी परिचित हैं और जिसके प्रभाव के वशीभूत होकर पूर्ण-काम सुन्दर घनश्याम श्रीकृष्ण जी स्वयं नित्य नव मेघ की शोभा धारण करते हैं, जहाँ पर जाकर सहृदयों की मति आनन्द का अनुभव करती है और श्रीकृष्ण के चरण-कमल की धूलि का स्पर्श करके अत्यन्त पवित्र हो जाती है, जहाँ पर नित्य-प्रति मुनियों के मन रूपी भ्रमर आनन्दित होकर पराग पीने के हेतु युगलकिशोर के चरण-कमल का ध्यान करते हुए घूमते रहते हैं उस व्रजभूमि में पवित्र और सरल स्वभाव वाले, सुन्दर गुणों के आगार, अत्यन्त प्रेमी और भोले-भाले गोपगण निवास करते हैं।

३—शब्दार्थ—सरबसु—सर्वस्व ; अघ-ओक-निकंदन—पाप समूह को नष्ट करने वाले।

भावार्थ—जिस ब्रजभाषा का आश्रय पाकर तुलसी का यश-सौरभ कलि का दोष दूर करने वाला, सुन्दर, मधुर, कोमल, सरस, सुगम, पवित्र और भक्तों का सर्वस्व हुआ। इस ब्रजभाषा रूपी सरिता के किनारों पर केशव, मतिराम, बिहारी, देव और हरिश्चन्द्र जैसे आम के वृक्ष सुशोभित हो रहे हैं; इसके किनारे पाप समूह को नष्ट करने वाले अष्टछाप रूपी कदम्ब के सुन्दर वृक्ष खड़े हुए हैं जो पुष्पित, प्रेमाकुलित, सुखद, सुगन्धित, और जग-वंदित है। समस्त प्रकार के भय को दूर करने वाली आर्यों में जागृति उत्पन्न करने वाली और उन्हें विजय देने वाली तथा मनुष्यों के मन को अपने वश में करने वाली भूषण रूपी कोकिल की वाणी शोभायमान है। इसमें मन को प्रसन्न करने वाले, सौन्दर्य और सुगन्धि के भण्डार, अनेकों रंग के अगणित कमल पद्माकर के रूप में खिले हुए हैं इन कमलों के पराग से चौंक कर अत्यन्त उत्सुक होकर रसिक रसखान जैसे बहुतेरे भ्रमर गुंजार करते हुए घूम रहे हैं। ब्रजभाषा के अन्तर-अन्तर में श्रीकृष्ण की प्रतिमा दिखायी पड़ती है और अद्भुत एवं अलौकिक छटा दिखायी पड़ती है।

४—शब्दार्थ—सृजत—रचना करते हैं; अविकार—विकार रहित।

भावार्थ—हे प्रभो! आपके सामर्थ्य को कौन जान सकता है। आप नित्य नये रूप धारण करने वाली समस्त

कि आप इस जगज्जाल को मकरी के जाले के समान बनाते हैं, फैलाते हैं तथा फिर कौतुक ही में जगज्जाल की माया को समेट लेते हैं। हे वासुदेव! आप सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त हैं और सम्पूर्ण विश्व आप में व्याप्त है। आप के शरीर में सभी रंगों का समावेश है इसीलिए आप घनश्याम कहलाते हैं। आप परम पुरुष हैं और प्रकृति नटी के सङ्ग मिलकर अपार लीला की सृष्टि करते हैं। आप समस्त संसार में व्याप्त होने के कारण विष्णु कहलाते हैं। आश्चर्य है कि इतना होते हुए भी आप अविकारी कहे जाते हैं। हे विश्व रूप भगवान्! अविद्या जनित ज्ञान के वशीभूत होकर हम आपके जितने समीप होने का प्रयत्न करते हैं आप क्षितिज की भाँति तरसाते हुए हम से उतनी दूर होते जाते हैं।

टिप्पणी—इस पद में भगवान की विनय की गयी है।

५—शब्दार्थ—जाँचत—याचना करता है; महाभारत—विकट संग्राम।

भावार्थ—हे माधव! आप के पास कभी कुछ भी पूँजी नहीं रही है। दीन दुखी (आप के) दानी होने के धोखे में आकर आप से याचना करते हैं किन्तु सच्ची बात तो यह है कि वे आप के स्वभाव से तनिक भी परिचित नहीं हैं, वे आपका सुयश सुनकर आपके पास आने का लोभ करते हैं। संसार आपको मोहन (मोह करने वाला) बताता है पर आप को किसी के प्रति कुछ भी मोह नहीं आता है। हे करुणा के सागर! आप में करुणा की एक बूँद भी नहीं है। आप एक से छीनकर दूसरे को दे देते हैं इसी कारण आप संसार में दानी के नाम से प्रसिद्ध हो रहे हैं। ऐसा हेर-फेर आप नित्य नये ढंग से करते रहते हैं।

(आपकी हेरा-फेरी के कतिपय प्रमाण ये हैं।) आपने गोपियों के रंग-बिरंगे चीर चुरा लिये थे उसी को आपने बड़ी उदारता प्रकट करते हुए द्रौपदी को दिया। समुद्र-मंथन के समय आपको अमृत का जो कलश मिला था, धीरे-धीरे मुस्कराते हुए आपने उसे देवताओं को पिला दिया। कंस के मदमस्त हाथी कुवलया पीड़ का प्राण खेल ही खेल में आपने हरण कर लिया था उसी प्राण को आपने गजेन्द्र को बड़ी दया दिखाते हुए दिया। बालि और रावण को मारकर आपने जो राजपाट पाया उसे अत्यन्त एहसान जताते हुए आपने सुग्रीव और विभीषण को सौंप दिया। पौंडरीक नरेश का सर्वस्व नष्ट करके आपने जो माल-असबाब पाया था उसे को अत्यन्त मोह प्रदर्शित करते हुए आपने मित्र सुदामा को दे दिया। हेरा-फेरी के इसी गुण के कारण वेद आपको 'नेति-नेति' कहता है। शेषनाग, महादेव, इन्द्र और गणेश आदि आपकी सामर्थ्य नहीं जान पाते। आप माया अगाध सागर में भारत की नाव डुबा रहे हैं और यहाँ महाभारत-संग्राम की सृष्टि कर भाई-भाई को आपस में लड़ा दे रहे हैं। इस कारण आप अब संसार में दिवालिये के नाम से प्रसिद्ध हो रहे हैं। आप ने बड़े-बड़े मठों को काला किया है व्यर्थ में अब आप अपनी पोल न

टिप्पणी—इस पद में सत्यनारायण जी ने निन्दा के व्याज से भगवान् की स्तुति की है।

८—शब्दार्थ—अछत—रहते हुए ; विपदा—विपत्ति ; आतुर—शीघ्र।

भावार्थ—सत्यनारायण कविरत्न कहते हैं कि हे माधव ! अब और न तरसाइए। आप जैसे (कृपा) पहले से (दोनों

पर) करते आ रहे है वही दया फिर दिखलाइए। मान लीजिए कि हम दुष्ट, कुकर्मी, कपटी कुटिल और गँवार हैं इसलिए आप हमारा उद्धार नहीं करते तो बताइए आप स्वयं कैसे अशरण-शरण और दीनों के उद्धारकर्त्ता हैं। आपके रहते हुए देश की दशा इस प्रकार से छिन्न-भिन्न हो किन्तु उस पर भी भारतवर्ष में अवतार धारण करने के नाते तुम्हें तनिक भी लज्जा न आवे। हे त्रिलोकीनाथ ! हम सब आर्त्त-जन आपको पुकार रहे हैं लेकिन आप अनसुनी कर रहे हैं और निष्ठुरता धारण कर कान में उँगली डालकर (मौन साधकर) चुप बैठे हुए हैं। मेरी अब भी आप से यही प्रार्थना है कि आप अपने विरद की ओर देखिए और दीन-दुखी व्यक्तियों की आपत्ति को यथाशीघ्र दूर कीजिए।

टिप्पणी—इस पद में प्रभु से प्रार्थना की गयी है।

७—**शब्दार्थ**—ठीकुरी—पट्टी ; पाषान हृदय—पत्थर के समान कठोर हृदय।

भावार्थ—सत्यनारायण कविरत्न कहते हैं कि हे मोहन ! आप कब तक चुप्पी लगाये रहेंगे और अपनी आँखों पर कब तक और पट्टी बाँधे रहेंगे। तुम्हारी आँखों के सामने भारत के लोग क्षण-क्षण दुर्बल और अधीर हो रहे हैं ऐसी दशा में भी यदि आपका हृदय पत्थर जैसा कठोर बना रहा और जरा सा भी नहीं पसीजा तो क्या हुआ। हम लोग पुकारते-पुकारते थक गये पर (आपके मौन रहने से) हमने जान लिया कि वस्तुतः अब आप में रस नहीं रह गया है। यद्यपि हम ने अपने नेत्रों से आँसू के पनारे बहाये हैं पर फिर भी आप का कपट नहीं छूटा है। हे प्रभो ! अब अनहोनी होने वाली है क्योंकि विपत्ति

रूपी ग्राह ने विश्व रूपी गजेन्द्र को ग्रस लिया है। हे श्याम! आश्चर्य है कि ऐसे समय में तुम्हें आँखमिचौनी सूझ रही है। हे प्रभो! आपने अपने लोकप्रसिद्ध सद्गुणों को कहाँ भुला दिया है यदि आपका ऐसा ही स्वभाव रहा तो फिर आप 'करुणासिन्धु' नाम से कैसे प्रसिद्ध हुए।

टिप्पणी—इस में भारत-दुर्दशा अङ्कित की गयी है।

८—शब्दार्थ—दई—दैव ; निर्दयी—निष्ठुर।

भावार्थ—सत्यनारायण कविरत्न कहते हैं कि हे करुणा-घन प्रभो! हमें अब और न सताइए और हमारी दशा देखकर दो आँसू तो गिराइए। हाय! हम ने संसार के समस्त प्राणियों से अधिक ऐसा कौन-सा पाप किया है जिसके कारण दैव निर्दयी बनकर हमें दुख दे रहा है। हे प्रभो! यदि आप को हम अपनी सच्ची दशा बताते हैं तो सारा समाज चौंक उठता है है। बस इतने से ही जान लीजिए कि अपनी जाँघ उघारने से अपनी ही लज्जा जाती है। हमने माना कि (सर्वतोभावेन) आप अच्छे हैं, हम बुरे हैं और हमारा ही सारा अपराध है पर आप से प्रार्थना है कि आप जो कुछ भी करना चाहते हैं, आज करें और अगाध पुण्य प्राप्त करें। आप जातीय-प्रेम की होली जलाकर उसकी राख न उड़ावें। मैं आप से दोनों हाथ जोड़कर यही माँगता हूँ कि आप लोगों में और भेद-भावना न भरें।

टिप्पणी—भारत-दुर्दशा का इस से भी अधिक उत्कृष्ट पद क्या होगा।

९—शब्दार्थ—पसीजै—द्रवित होवे।

भावार्थ—सत्यनारायण कविरत्न कहते हैं कि हे प्रभो! हमारे तन और मन में अनेकों प्रकार की जो वेदनायें व्याप्त हो रही हैं वह अब नहीं सही जातीं। हे प्रभो! हम इस यातना को कब तक सहें, सहने की भी एक अवधि होती है, आप कुछ बतायें तो सही। हे दीनबन्धु! हमारी यह दीनदशा देखकर आपका हृदय क्यों नहीं द्रवित होता? हे प्रभो! गजेन्द्र का दुख दूर करने के समय आपने तनिक भी विलम्ब नहीं किया पर हे करुणानिधि! बताइए, अपने भक्तों पर करुणा करने में आपको क्यों आलस्य हो रहा है? यदि आप के पद-चिह्नों के अनुगामी भक्त भी कर्मयातना भोगें तो बताइए फिर आप किस बात के स्वामी हैं? क्या आपने अपनी 'विरद-बानि' त्याग तो नहीं दिया जिस के कारण हम जैसे अनाथों की आपने कुछ भी सुधि नहीं ली। वेद कहते हैं और सभी पुराण गाते हैं कि आप सभी प्रकार के भय और ताप को दूर करने वाले हैं, शरण में आये भक्तों की तनिक पीड़ा भी आपके हृदय को तीर के समान वेधती है फिर हम जैसे शरणापन्न दुखी व्यक्ति को आपने न जाने क्यों भुला दिया है। (आपके कार्यों से जान पड़ता है कि) आपने अपना "शरणागत वत्सल" नाम व्यर्थ ही धारण कर रक्खा है।

टिप्पणी—इस पद में सत्यनारायण जी ने अपने दुखी जीवन का करुण चित्र खींचा है।

१०—शब्दार्थ—घनस्याम—कृष्ण मेघ ; घनस्याम—श्रीकृष्ण ; स्वेत पटल—श्वेत पर्दा या श्वेत वस्त्र (श्वेत रंग के बादलों से तात्पर्य है) ; सुरभी—गाय ; तड़ितहिं—विद्युत को।

सन्दर्भ—आकाश में घिरे हुए कृष्ण-मेघ को देखकर सत्यनारायण जी कहते हैं—

भावार्थ—हे कृष्ण-मेघ! बताओ घनश्याम श्रीकृष्ण जी कहाँ हैं? इस समय आकाश में धूल मण्डरा रही है पर बताओ कि प्रभु की वह चरण-धूलि कहाँ है जिसे हम आठों पहर शिर पर धारण किये रहें। हे मेघ! आपने श्वेत वस्त्रों को धारण तो किया है पर बताओ (श्वेत रंग की) सुख देने वाली सुन्दर गायों को आपने कहाँ छोड़ दिया है? मोरों के स्वर इस समय चारों ओर बड़ी तीव्रता के साथ सुनाई दे रहे हैं पर बताओ कि मोर का मुकुट धारण करने वाले श्रीकृष्ण जी कहाँ हैं? तुम बार-बार गर्जना कर रहे हो पर बताओ, सभी प्रकार के कोमल स्वरों को उत्पन्न करने वाली मुरली कहाँ है? तुम क्षण-क्षण में बिजली चमकाते हो पर पीताम्बर का नाम तक नहीं बताते।

टिप्पणी—मेघ में भगवान कृष्ण के समान श्यामता आदि देखकर उस से श्रीकृष्ण का पता पूछा गया है। काव्य-दृष्टि से यह पद बहुत ही भावपूर्ण है।

भ्रमरदूत

११—शब्दार्थ—श्रीराधावर—श्रीकृष्ण ; मनभावन—प्यारे।

भावार्थ—जो रसिकों में श्रेष्ठ, मनोहर और विशुद्ध प्रेम के निकुञ्ज हैं तथा जो सब को प्रसन्न करने वाले, सब के हृदय को सुखी बनाने वाले, नित्य, आनन्द के भण्डार, रँगीले और साँवरे हैं एवं जिसे व्रज प्यारा है और व्रज जिसे प्यार करता है ऐसे श्रीकृष्ण जी अपने भक्तों की समस्त आपत्तियों को नष्ट कर देते हैं।

१२—शब्दार्थ—जन-मन-रंजन—मनुष्य के मन को प्रसन्न करने वाले।

भावार्थ—कंस को मारकर पृथ्वी का बोझ हलका करने वाले, दुष्टों को मारकर उनका उद्धार करने वाले, विशुद्ध विज्ञान को प्रसारित करने वाले, वैदिक धर्म का उद्धार करने वाले, भक्तों के मन को प्रसन्न करने वाले, सुन्दर, गुणों के आगार, व्रज के चित्त को विमोहित करने वाले, संसार के भय को नष्ट करने नागर नन्दकिशोर मोहन जब द्वारिका गये।

१३—**शब्दार्थ**—पाती—चिट्ठी ; निसरतु—बहता था।

भावार्थ—द्वारिका चले जाने के पश्चात् जब माता यशोदा को श्रीकृष्ण जी के कुशल-क्षेम की चिट्ठी न मिली तो वे कृष्ण के विरह में व्याकुल होने, और बिलखने लगीं तथा सारे स्नेह के उन्हें रोमाञ्च होने लगा। प्यारे भगवान् के दर्शन बिना वे क्षण-क्षण पर अधीर होती जा रही थीं। वे दिन-रात आँसू गिरातीं और श्रीकृष्ण के विषय में सोचती रहती थीं। वे बहुत ही बेचैन थीं और उनके हृदय में शान्ति न थी।

१४—**शब्दार्थ**—लोल—सुन्दर ; अमल—शुद्ध ; दादुर—मेढक ; रसाल—मीठी।

भावार्थ—जब पवित्र सावन मास आया तो नव मेघ-घटा घिर आयी तब मुनियों के मन को मोहित करने वाली, सुन्दर रसमयी छटा छा गयी। उस समय नदी, पोखर और ताल चारों ओर जल भरे सुन्दर प्रतीत हो रहे थे और इस विशुद्ध जल में सुन्दर मेढक दिखायी पड़ते थे जिनकी मधुर वाणी से छटा चुई पड़ रही थी।

१५—**शब्दार्थ**—द्रुमन—वृक्षों से ; केकी—मोर ; निरखि—देखकर।

भावार्थ—ब्रज में कहीं पर सुन्दर लता वृक्षों से लिपटकर सुशोभित हो रही थी और (कहीं पर) धुले हुए पत्तों की अनुपम सुन्दरता प्रकट हो रही थी। आकाश में बादल की घटा देखकर पपीहे का घूम-घूमकर पी-पी पुकारना, कोयल का मधुर वाणी में कू-कू करना और मोर का कुञ्जों में कुहककर किलोल करना बहुत सुन्दर लग रहा था।

१६—शब्दार्थ—जनम्यौ—पैदा हुआ है; छिति—पृथ्वी।

भावार्थ—आकाश में इन्द्रधनुष और पृथ्वी में इन्द्रवधूटियों की सुन्दर शोभा देखकर संसार में ऐसा कौन है जिसका मन मोहित न हो। पावस का पवित्र फुहारें चारों ओर शोभा पा रही थीं। इस समय पृथ्वी पर ऐसी मनमोहिनी शोभा बिखरकर सुशोभित हो रही थी जिसका कुछ आर छोर ही न था।

टिप्पणी-१४, १५, १[illegible] [illegible]खयक पदों का प्रकृति-वर्णन बहुत ही उत्कृष्ट हुआ है। इसमें प्रकृति के वास्तविक स्वरूप का निदर्शन है।

१७—शब्दार्थ—लखि [illegible] [illegible] दिखायी पड़ता है।

भावार्थ—कुञ्जों में कहीं पर [illegible] [illegible] वाला, [illegible] और मनोहर प्रतीत होने वाला [illegible] [illegible]) हृदय को प्रसन्न करने वाला पवित्र चाँदनी-समूह दिखायी पड़ता [illegible]। सब को अत्यन्त प्यारी [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] हिंडोलों पर चढ़कर झूलती थीं और कोकिल के [illegible] [illegible] करती हुई सुन्दर मल्हार राग गाकर आनन्द [illegible] [illegible] [illegible]

टिप्पणी—प्रस्तुत पद में कवि ने बालिकाओं द्वारा मल्हार गवाकर भ्रातृ-प्रेम की वृद्धि किया है। इस से उसके सरल और पवित्र चरित्र का पता लगता है।

१८—शब्दार्थ—भौंरा—लट्टू की भांति नचाया जाने वाला एक प्रकार का खिलौना।

भावार्थ—इस समय बच्चे हर्षित होकर अपने वक्षस्थल को खोले हुए चारों ओर से चले आ रहे थे और मन्द-मन्द मुस्कराते हुए आनन्दमयी बातें आपस में कर रहे थे। इस समय कोई बच्चा अपनी 'धौरी' और 'धूरि' गायों को पुकारता हुआ वृक्ष की डाल हिला रहा था और कोई भौंरा व चकई को नचाता हुआ सुन्दर अलाप कर रहा था। इस प्रकार सभी बालक विविध प्रकार की क्रीड़ा कर रहे थे।

टिप्पणी—इस में बाल प्रकृति का चित्रण हुआ है।

१९—शब्दार्थ—लाल—पुत्र, श्रीकृष्ण।

भावार्थ—प्राकृतिक सौन्दर्य की इस राशि को देखकर माता यशोदा को पुत्र श्रीकृष्ण की सुधि आ गयी। वे प्यारे कृष्ण के बिना बहुत व्याकुल हो रही थीं और उनके शरीर में चक्कर आ रहा था। वे बेसुध होकर, माथा पकड़कर अत्यधिक सोच करने लगीं और कृष्ण का नाम ले-लेकर आंसू बहाने लगीं। उनकी दशा देखकर ऐसा प्रतीत होता था मानों विरह की धार आँसुओं के बहाने निकल रही हो।

टिप्पणी—इसमें यशोदा का वात्सल्य प्रेम दर्शनीय है।

२०—शब्दार्थ—चहुँधा—चारों ओर।

भावार्थ—श्रीकृष्ण के विरह की नयी बेलि यशोदा के हृदय में हरी हो गयी। सोचने और अश्रु गिराने के कारण इस बेलि में कोंपले निकलने लगीं। इसके पश्चात् प्रेम रस से सिंचित होकर यह लता शरीर रूपी वृक्ष में लिपट गयी फिर तो उनको फोड़कर फैलती हुई शरीर रूपी वृक्ष में चारों ओर फैल गयी। इस प्रकार यशोदा जी के व्यथा की कथा अवर्णनीय हो गयी।

टिप्पणी—इस छन्द में विरह-बेलि का सांगोपांग रूपक दिया गया है।

२१—शब्दार्थ—मोद—प्रसन्नता।

भावार्थ—यशोदा जी खिन्न मन से कहती हैं कि मैं प्यारे कृष्ण को कहाँ ढूँढ़ने जाऊँ? कब मैं ललककर अपने प्यारे लालन को वक्षस्थल से लगाऊं? मैं कब अपनी छाती ठंडी करूँ, मैं कब पुत्र के दर्शन पाऊँ और कब मन ही मन प्रसन्न होऊँ? मैं दौड़कर किस के हाथ श्याम का संदेश भेजूँ।

२२—शब्दार्थ—गमाओ—खोया।

भावार्थ—यशोदा जी कहती हैं कि मैं ने एक अक्षर तक नहीं सीखा है और स्वप्न में भी मुझे कुछ ज्ञान नहीं मिला है। मेरा सारा जीवन दूध-दही खाने में नष्ट हुआ है। मेरे माता-पिता ने मुझे शिक्षा न देकर शत्रुवत् कार्य किया है। मेरी सारी आयु तो अब बीत गयी फिर अब कुछ भी कहने से क्या होगा। हाय! मेरे मन की मन ही में रह गयी।

२३—शब्दार्थ—विद्या-पूर्ण—विद्या में प्रवीण।

भावार्थ—तुमने अपने गुरु गर्ग जी द्वारा सती अनु-

सूया की पुण्य-कथा सुनी है और परम पुनीता सती सीता की प्राचीन सुन्दर कथा को सुनी है। स्त्री-रत्न मैत्रेयी जी ब्रह्म-विद्या को विशद रूप से जानने वाली थीं, शास्त्रों में पूर्ण निपुण गार्गी तथा सुचतुरा मंदालसा सभी नारियाँ पढ़ी थीं।

२४—**शब्दार्थ**—अभिमत—चाहा हुआ, वांछित।

भावार्थ—इन नारियों ने ही संसार में जन्म लेने का फल पा लिया है और हर प्रकार के वांछित विचारों को स्थिर रूप से अपना लिया है। संसार की स्त्रियों के सामने इन्होंने अपना अनुपम और उज्ज्वल उदाहरण रक्खा है विद्या का बल मिलने के कारण उनके पुण्यस्वरूप का पवित्र यश दशों दिशाओं में छा गया है।

२५—**शब्दार्थ**—निरादरत—निरादर करते हैं; अनारी—अशिक्षित; पातक—पाप; अजमाइ के—परीक्षा करके।

भावार्थ—जो अज्ञानी नारी-शिक्षा का निरादर करते हैं वे स्वदेश की अवनति के प्रचण्ड पाप के अधिकारी होते हैं। मेरा हाल देखकर सब लोग समझ लें और परीक्षा करके देखें कि नारी विद्या-बल पाकर किस प्रकार अबला से सबला हो जाती है।

टिप्पणी—२३, २४ और २५ वें छन्द में नारी शिक्षा पर बहुत जोर दिया गया है।

२६—**शब्दार्थ**—पूत—पुत्र; बिथा—अब।

भावार्थ—यशोदा कहती हैं कि मैं किस को दूत बनाकर पुत्र श्रीकृष्ण के पास भेजूँ जो बातों में फुसलाकर उन्हें हमारे

पास ले आवे। श्रीकृष्ण सब का साथ छोड़कर मथुरा से सात समुद्र पार (बहुत दूर) द्वारका में चले गये हैं, भला वहाँ कौन जायगा।

२७—शब्दार्थ—रमनीय—सुन्दर।

भावार्थ—ऐ वज्रमारे अक्रूर तेरा नाश हो। तू बातों में बहकाकर हमारे प्राणप्यारे श्रीकृष्ण को ले गया। वह सुन्दर स्वरूप कोई क्यों नहीं लाकर दिखाता! हाय! श्याम और बलराम—दोनों सुन्दर मूर्तियाँ कहाँ हैं, मैं उनके लिए व्याकुल हो रही हूँ।

टिप्पणी—माता यशोदा की खीझ और मन की व्यथा इस छन्द में देखते ही बनती है।

२८—शब्दार्थ—तन-सुरति—शरीर की सुधि।

भावार्थ—यशोदा जी उदास और निराश होकर अपने तन की सुधि-बुधि भूल गयी थीं। वे वात्सल्य प्रेम में भरी हुई पुत्र-दर्शन के लिए लालायित थीं। जब श्याम ने देखा कि उनकी माँ दुखित होकर विलाप कर रही हैं तो वे भ्रमर का परम मनोहर रूप धारण करके भागते-भागते माता के पास आ पहुँचे।

२९—शब्दार्थ—तिहिं दिसि—उसकी ओर।

भावार्थ—महारानी यशोदा भ्रमर को ठिठकते और (अपने पास) रुकते हुए देखकर अपने मन में सोचने लगीं कि यह भ्रमर मेरे दुख से अत्यन्त दुखी हो रहा है। यह सोच-कर वे आँखों में आँसू भरकर चकित चित्त से उस की ओर

ताकने लगीं और प्रभु के वियोग से अत्यन्त आर्त, कातर और भ्रमित हो वे उस भ्रमर से गद्गद वाणी में कहने लगीं।

३०—**शब्दार्थ**—बिपिन बिहारी—वन में भ्रमण करने वाले।

भावार्थ—ऐ भ्रमर! सुन। तेरा शरीर मेघ के समान श्याम है और श्रीकृष्ण का शरीर भी मेघ के समान श्याम है। इधर तेरी मधुर गुंजार है और उधर उनकी मधुर मुरली की ध्वनि है। इधर तेरी कमर में पीली रेखा है और उधर उनका सुन्दर पीताम्बर है। तुम दोनों कुंज-विहारी हो, एक ही भांति शृंगार करने वाले और रसिक हो।

टिप्पणी—भ्रमर और श्रीकृष्ण की समता इस पद में बहुत सुन्दर ढंग से की गयी है।

३१—**शब्दार्थ**—ढिग—पास, षटपद—भ्रमर।

भावार्थ—माता यशोदा कहती हैं कि ऐ भ्रमर! मैं इसी कारण से तुझे अपने प्यारे कन्हैया के पास भेज रही हूँ। मैं अभी अपनी जो व्यथा तुझे सुनाऊंगी उसे तू उस (श्रीकृष्ण) से कह देना। तुम स्वयं कृपालु बनकर दौड़ते हुए द्वारिका जाना और यह संदेश देकर अपना काम बनाकर शीघ्र ही वहाँ से लौट आना।

३२—**शब्दार्थ**—बिसारी—भुला दिया।

सन्दर्भ—श्रीकृष्ण से कहा जाने वाला संदेश माता यशोदा अपने भ्रमर-दूत से कहती हैं—

भावार्थ—सुना जाता है कि माता और जन्मभूमि सब

को स्वर्ग से भी प्यारी होती है, हे साँवरे कृष्ण ! तुमने सब की सुधि भुला दी है और सबका मोह त्याग दिया है। तुम्हारी बुद्धि कैसी पलटी हुई है जो इस प्रकार का वर्ताव कर रहे हो अथवा तुमने कोई विष-भरी नवीन नीति का अनुसरण किया है,जिसका प्रभाव तुम्हारे ऊपर इस प्रकार पड़ा है।

३३--**शब्दार्थ**—पोंछन सौं—पोंछने से ; चारु—सुन्दर ; चाकी—उसकी ओर ; कितहुँ सों—कहीं से।

भावार्थ—हे भ्रमर ! जब श्रीकृष्ण मुँह में लगे मक्खन को (चोरी प्रकट न होने देने के लिए) हाथ से पोंछ देते थे तब जिस मक्खन की चिकनाहट बहुत सुन्दर दिखायी पड़ती थी, उसको तथा मधुबन के श्यामल तमाल वृक्षों को, जो कि पहले हृदय को प्रफुल्लित कर देते थे, देखने से हमारी चित्तवृत्ति उसी (कन्हैया) की ओर खिंच जाती है और ऐसा प्रतीत होता है मानों कन्हैया कहीं से आकर अपने सखाओं से बातें करता हुआ घर की ओर आ रहा है।

टिप्पणी—इस में स्मरण अलङ्कार है।

३४—**शब्दार्थ**—मनहरन—मनोहर।

भावार्थ—यमुना किनारे कदम्ब वृक्षों के वन वही हैं, अनेकों रंग के मनोहर लता-मण्डप भी वही हैं और परम आनन्द देने वाली कुन्द की निकुंजें भी वही हैं पर श्रीकृष्ण के बिना यह समस्त प्राकृतिक सौन्दर्य विष के समान घातक है। मेरा चित्त तो श्रीकृष्ण के पास ही धरा हुआ है।

३५—**शब्दार्थ**—बौरे—पगले।

भावार्थ—हाय ! एक श्रीकृष्ण बिना पलाश उदास हैं,

अशोक भारी शोक में ग्रस्त है, आम का वृक्ष विक्षिप्त है और माधवी लता दुखी हो रही है। ये सब अपना प्रफुल्लित होना छोड़कर कृष्ण विरह से व्यथित हो आकुल हो रहे हैं। इस प्रकार जड़ भी चेतन्य जीवों की भांति श्रीकृष्ण विरह में दीन और उदास दिखायी पड़ रहे हैं।

टिप्पणी—यहाँ कवि सारी प्रकृति को श्रीकृष्ण के विरह में व्याकुल बता रहा है।

३६-शब्दार्थ—झुराय रहीं—सूख रहीं।

भावार्थ—हे कृष्ण ! तुम सघन वंशीवट की छाया में नित्य नवीन तृण डालकर जिन गौओं को खिलाते थे और अपने कर-कमलों से जिन्हें सहलाते थे, वे यहाँ पर तुम्हारी अत्यन्त सुधि करती हैं, उनका सारा शरीर सूख रहा है। वे गायें आँखों से आँसू गिराती हैं, मारे व्याकुलता के पेट भर तृण नहीं चरती हैं और मुँह उठाये घूमती रहती हैं।

टिप्पणी—"उठाये म्हौं फिरैं" में कवि ने गौओं की प्रकृति का सूक्ष्म निरीक्षण प्रकट किया है।

३७—शब्दार्थ—हीय—हृदय में।

भावार्थ—ये अनबोलनी दीन गौएँ बड़े ही दुख से अपना जीवन बिता रही हैं और तुम्हारे दर्शन की लालसा से चकित-चित्त हो ये इधर-उधर देखा करती हैं। फिर तुम ऐसी गौओं को एक संग ही क्यों छोड़ रहे हो ? हे भ्रमर ! तुम श्रीकृष्ण से कहना कि प्यारे कृष्ण ! संसार में गौओं को पालने वाले के नाम से प्रसिद्ध होकर उनकी ममता इस प्रकार त्यागते हुए क्या तुम्हारे हृदय में लज्जा नहीं आती ?

३८—**शब्दार्थ**—घनस्याम—श्रीकृष्ण ; घनस्याम—श्याम मेघ।

भावार्थ—नीले आकाश को देखकर उसमें श्रीकृष्ण के नील-कमलवत सुन्दर शरीर का भान होता है और मनमोहिनी बिजली को देखकर (कृष्ण के) पीताम्बर का भ्रम होता है। इस प्रकार श्याम वर्ण के मेघों में श्रीकृष्ण का भ्रम करके ब्रज के बहुत से मोर आनन्द में भरे कुहक रहे हैं।

टिप्पणी—मोर की प्रसन्नता का कारण कृष्ण-मेघ होता है पर यहाँ कवि ने श्रीकृष्ण को ही मोर की प्रसन्नता का कारण माना है। इस में प्रतीप अलङ्कार है।

३९—**शब्दार्थ**—अजहुँ—अब भी ; काढ़त—निकालते हुए।

भावार्थ—मिश्री मिला हुआ यहाँ जैसा ताजा और अत्युत्तम मक्खन शहर में कहाँ मिल सकता है ? अब भी जब मैं नित्य सवेरे के समय मक्खन काढ़ती हूँ तो हृदय में यही लालसा बनी रहती है कि नित्य मक्खन खानेकी आदत रखने वाले माखन-चोर कहीं मक्खन न मिलने के कारण भूखे न रह जाते हों।

टिप्पणी—मातृ-हृदय की कितनी सुन्दर अभिव्यक्ति है।

४०—**शब्दार्थ**—विधि—प्रकार ; दारुण—कठिन।

भावार्थ—उसके बिना ग्वालों को उनकी भलाई की बात कहकर कौन सुनावे और समता और बन्धुत्व की बातें कौन सिखावे। यद्यपि ये हर प्रकार के कठिन अत्याचार सहन करने

हैं पर कोई अगुवा न होने के कारण ये एकदम मूर्ख बनकर मुख से कुछ भी नहीं कहते हैं।

टिप्पणी—इस छन्द में आजकल के किसान-बन्धुओं की दारुण दशा का चित्र खींचा गया है।

४१—**शब्दार्थ**—भीरु—डरपोक।

भावार्थ—भय से त्रस्त होने के कारण इनका हृदय इतना भीरु और संकुचित हो गया है कि इनको अपनी जाति की उन्नति में कुछ भी विश्वास नहीं रह गया है। इनमें अब न तो पहले की सी सुन्दर (सामाजिक) रीतियाँ हैं और न पहले का-सा पारस्परिक प्रेम है। ये अपनी ढपली और अपना राग जोर से अलाप रहे हैं अर्थात् कोई किसी की नहीं सुनता है।

टिप्पणी—इसमें 'अपनी... राग' का प्रयोग बड़ा सुन्दर हुआ है।

४२—**शब्दार्थ**—मरजाद—मर्यादा।

भावार्थ—अब अपने देश की वेष-भूषा और भावन की रक्षा होने की कोई आशा नहीं रह गयी है। जो ब्रजभाषा अभी तक बच रही था वह भी नष्ट हुई जा रही है। आस्तिकता की बुद्धि नष्ट होती रही है। सारी मर्यादा बिगड़ती जा रही है। सभी के हृदय में अनोखे ढंग के भिन्न-भिन्न प्रकार के आनन्द लेने की लालसा हो रही है।

टिप्पणी—देश-दुर्दशा का क्या ही सजीव चित्र है!

४३—**शब्दार्थ**—छोहरी—छोकरी, लड़की ; गरबाय—गर्वीली।

भावार्थ—नवीन और सुन्दर लता झुकी होने से शोभा पाती है और नवोढ़ा स्त्री शीलवती होने से शोभा पाती है। इनकी कोमलता और विनीतता की सभी प्रशंसा करते हैं किन्तु अब की गोपी मस्ती में भर कर इतराकर चलती हैं और किसी की कुछ भी परवाह नहीं करती हैं। आजकल जहाँ देखिए वहाँ अल्पवयस्का युवतियाँ इस प्रकार गर्व में फूली फिरती हैं।

टिप्पणी—आजकल की कन्याओं की दुर्दशा इस पद में दिखायी गयी है।

४४—शब्दार्थ—सपनो भयो—स्वप्न हो गया।

भावार्थ—प्यारे कन्हैया! तुम ने अपने कर-कमलों पर गोवर्द्धन-धारण करके इन्द्र को लज्जित किया था, वह अब तुम्हारी अनुपस्थिति में अपना बदला चुकाना चाहता है। अब बादल नियमपूर्वक वृष्टि नहीं करते हैं और पानी स्वप्न हो गया है जिसके कारण समस्त गोकुल निवासी दिन-दिन व्याकुल हो रहे हैं।

टिप्पणी—आजकल की अनावृष्टि का क्या ही करुणा-पूर्ण चित्र है!

४५—शब्दार्थ—मौन साधी—चुप्पी लगायी।

भावार्थ—संसार में गोरी मेमों को गोरे पुत्र अच्छे लगते हैं पर मुझ जैसी काली कलूटी को तुम जैसे काले रंग के पुत्र ही भाते हैं तुम मेरी आँखों के तारे हो। उन मेमों के लिए तो सारा संसार सहायक है पर मुझ दुखिया का कौन

सहारा है ! बताओ, जो तुम मौन साध रहे हो इससे कौन-सा स्वार्थ सिद्ध करना चाहते हो ।

४६—शब्दार्थ—तिहारो—तुम्हारा ।

भावार्थ—तुम्हारा वृन्दावन अब पहले की भाँति नहीं रह गया है, इस के चारों अनेक प्रकार के परिवर्तन हो चुके हैं । घने जङ्गलों को काटकर यहाँ नये चौरस खेत बनाये गये हैं । निधुवन और सेवाकुंज देखने मात्र के लिये रह गये हैं अब गायें कहाँ चरेंगी ?

टिप्पणी—ब्रज की वर्तमान दशा का सही चित्र इसमें अंकित है ।

४७—शब्दार्थ—लखाई—दिखायी पड़ता है ।

भावार्थ—जमुना में भी पहले की सी गहराई नहीं रह गयी है । जहाँ पहले जल था, वहाँ अब स्थल है, और जहाँ पहले स्थल था वहाँ जल दिखायी पड़ रहा है । जहाँ पहले कालीदह था वहाँ अब उज्ज्वल रेत चमक रहा है और जगह-जगह झाऊ उगे हुए हैं, इन के बीच में काछियों और मालियों ने अपना-अपना खेत बना लिया है ।

४८—शब्दार्थ—दिनन के फेर सों—समय पलटने से ।

भावार्थ—यहाँ नित्य ही अकाल पड़ रहा और चारों ओर काल का चक्र चल रहा है । यहाँ कहीं भी जीवन का आनन्द नहीं दिखायी पड़ रहा है । चारों ओर यथेच्छाचार और मनमानी का बोलबाला हो रहा है तथा समय पलटने से आर्य-समाज दिन-दिन क्षीण और नष्ट-भ्रष्ट हो रहा है ।

४९—शब्दार्थ—खासी विपदा—घोर विपत्ति।

भावार्थ—जो मातृभूमि की ममता त्याग कर प्रवासी हो जाते हैं उन्हें विदेशी लोग खूब तंग करके विपत्ति-ग्रस्त बना देते हैं। घर की ओर न लौटने पर हृदय की कठोरता सिद्ध होती है और लौटने पर गौरव नष्ट होता है। सब की गति साँप छछूँदर की सी हो रही है और सभी मन ही मन व्याकुल हो रहे हैं।

टिप्पणी—इस छन्द में प्रवासी भारतीयों की दुर्दशा दिखलायी गयी है।

५०—शब्दार्थ—दीप सिखा—दीपक की लौ।

भावार्थ—दीपक की लौ के समान जो जातीय-ज्योति टिमटिमा रही है वह विदेशी वायु का झोंका लगने के कारण अचला के समान बुझना चाहती है। किसी के हृदय में लेशमात्र भी प्रेम शेष नहीं है। हाय! अब घर की दशा किस से कही जाय? अब देश में ही परदेश हुआ समझिये।

५१—शब्दार्थ—अधरान की—ओठों की।

भावार्थ—(श्रीकृष्ण के) अधरों पर रक्खी हुई वह मुरली, उनकी वह बाँकी चितवन, सघन कुञ्ज की वह छटा और जमुना की उस हिलोर की अनुपम शोभा का क्या कहना!

५२—शब्दार्थ—सगुन—सगुण।

भावार्थ—पीताम्बर पहने हुए, सुन्दर लाठी लिए हुए और मन्द-मन्द मुस्कराते हुए घनश्याम का सगुण रूप मेरे मन में बसे।

५३—शब्दार्थ—उछाह—उत्साह; काह—क्या।

भावार्थ—हे प्यारे श्रीकृष्ण! तुम आओ, बैठो और मुस्कराओ जिस से हमारे हृदय में उमंग उत्पन्न हो। हम पागल प्रेमियों के लिए इससे अधिक और क्या चाहिए?

टिप्पणी—पागल प्रेमियों की यह सौज खूब रही!

५४—शब्दार्थ—असार—सारहीन।

भावार्थ—हमने कर्म, धर्म और संयम का पूर्ण रहस्य जान लिया है पर इस असार संसार में एक प्रेम ही सब का सर्वस्व जान पड़ा है।

५५—शब्दार्थ—स्यामा-स्याम—राधाकृष्ण।

भावार्थ—ऐ मन! तू अपने चित्त में उत्पन्न हुई चिन्ता और संसार के नेम का भार त्यागकर प्रेम से राधा-कृष्ण की शरण ग्रहण कर।

५६—शब्दार्थ—नमौं—नमस्कार करता हूँ।

भावार्थ—भगवान विष्णु के अवतार श्री राधापति माधव, श्री सीतापति रामचन्द्र और मत्स्य आदि को मैं नमस्कार करता हूँ। ये सभी देवता हमारे सांसारिक दुखों को दूर करें।

५७—शब्दार्थ—सुखधाम—सुख के भण्डार।

भावार्थ—समस्त विश्व में व्याप्त हल और मूसल धारण करने वाले, रेवती पति, श्रीकृष्ण के ज्येष्ठ भ्राता, सुखधाम बलराम जी की मैं वन्दना करता हूँ।

५८—शब्दार्थ—भवबाधा—सांसारिक दुःख।

भावार्थ—संसार की घोर विपत्तियों को दूर करने वाले हे राधाकृष्ण! आप दुख-दारिद्र्य को नष्ट कर मेरे हृदय में मंगल-भावना का विकास करें।

५९—शब्दार्थ—निज पदन की—अपने चरणों की।

भावार्थ—हे वृषभानु की पुत्री, भगवान श्रीकृष्ण की आह्लादिनी शक्ति, और उनकी प्यारी राधिका जी! आप अपने चरणों की परम पवित्र भक्ति मुझे प्रदान करें।

६०—शब्दार्थ—स्रवन—कान।

भावार्थ—कानों में मकराकृत कुण्डल और शरीर में पीताम्बर धारण किये हुए गोपीपति श्रीकृष्ण जी आप श्री राधिका सहित मेरे हृदय में वास करें।

६१—शब्दार्थ—पियूष—अमृत।

भावार्थ—'सुनिमल अमृत को छोड़कर अब मेरे चरणों का रस क्यों पीवेंगे।' ऐसा जानकर बालक श्रीकृष्ण अपने पैर के अँगूठे को स्वयं चखाकर पीते हैं।

टिप्पणी—प्रायः शिशु अपने पैर के अँगूठे चूसा करते हैं; यहाँ बालक श्रीकृष्ण की यह मनोहर क्रिया सहेतु बतायी गयी है।

६२—शब्दार्थ—लखात—दिखाई देता है

भावार्थ—संसार में चन्द्रमा और कमल का वैर अनुचित कहा गया है। इसीलिए श्रीकृष्ण भगवान ने कमल को अपने चरणों में और चन्द्रमा को मुख में प्रतिष्ठित किया है।

टिप्पणी—इसमें प्रतीप अलंकार है।